PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 1

ISSN 2349-1809

पुस्तक-वार्ता

अंक 58-59 ■ नयी दिल्ली, मई-अगस्त 2015

संरक्षक संपादक
गिरीश्वर मिश्र *(कुलपति)*

संपादक
विमल झा

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. - हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
Website: www.hindivishwa.org

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)

एक अंक: ₹20
वार्षिक सदस्यता : ₹120

चेक कमीशन जोड़कर वार्षिक ₹145 और द्वैवार्षिक ₹265 म.गां.अं.हिं.वि, वर्धा को भेजें। मनीआर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : क्विक ऑफसेट, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 फोन : 011-22825606

मुखपृष्ठ : जे. पी. त्रिपाठी

संपादकीय संपर्क : 51 सी, ऊना इनक्लेव,
मयूर विहार-1, दिल्ली-110091 (मो. 09910186568)
E-mail: pustakvimal@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी: राजेश यादव, प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र:
प्रकाशन विभाग: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)
फोन: 07152-232943

PUSTAK-VARTA
A Bi-monthly journal of book Reviews in Hindi published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Post-Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

मुद्रण: क्विक ऑफसेट, दिल्ली-110032
email: computekin@gmail.com

इस बार

हिंदी भारत की जनभाषा है। वह भारतीय जन के भावों, विचारों और मूल्यों की वाहिका है। सूचना क्रांति और भूमंडलीकरण के इस दौर में मीडिया, बाजार और विज्ञापनों के दबाव में 'हिंदी' को 'हिंग्लिश' बनाने का प्रयास उसकी अस्मिता को नष्ट कर देगा।

हिंदी भाषा और साहित्य : **विश्वनाथ प्रसाद तिवारी** 5

हिंदी का परिदृश्य...: **अशोक वाजपेयी** 6
राजभाषा की नहीं, हिंदी की चिंता करें : **विश्वनाथ त्रिपाठी** 8
भाषा भारती हिंदी की गरिमा का सवाल : **गिरीश्वर मिश्र** 11
आधुनिकता में योजक-चिन्ह : **वागीश शुक्ल** 14
जनपदीय भाषाओं का हिंदी से...: **अरुणेश नीरन** 19
हिंदी, महात्मा गांधी और हमारा समय : **जितेन्द्र श्रीवास्तव** 23
बेपेंदी समाज की लुढ़की हुई हिंदी : **प्रियदर्शन** 26
हिंदी को राजभाषा नहीं काजभाषा बनाइए : **ओम निश्चल** 28
हिंदी में अनुवाद की समृद्ध परंपरा : **विष्णु नागर** 33
बाल साहित्य के अनुवाद के संदर्भ : **दिविक रमेश** 36
भाषाएं किसी शून्य में जिंदा नहीं रहतीं : **क्षमा शर्मा** 40
हिंदी का हाथी : **अजित कुमार** 44
साहित्य, समाज और राजभाषा : **जयशंकर** 47
...लोकगीतों का अंतर्संवादी स्वर : **श्याम सुंदर दुबे** 50
...साहित्य की उभरती प्रवृत्तियां : **प्रो. कृष्ण कुमार सिंह** 54
...मराठी कथा साहित्य : **सरयू प्रसाद मिश्र** 55
...बांग्ला कथा साहित्य : **कृपाशंकर चौबे** 58
...अशआर नहीं मर सकते : **शंभुनाथ मिश्र** 60
...'गांधी-विमर्श' : **मनोज कुमार राय** 64
जख्मों से भरा सीना है मेरा... : **जयप्रकाश चौकसे** 67
एक पत्रिका के... : **डॉ. अशोकनाथ त्रिपाठी** 71

ज्ञान ज्योति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की नई वार्षिकी

। लोक। शास्त्रीय। परंपरा। आधुनिक।

ताना-बाना

कला संस्कृति : व्यवहार और विमर्श

हिंदी और हिंदी से जुड़ी बोलियों की सांस्कृतिक विरासत, उनकी कला परंपराओं, उनकी लोक मान्यताओं, लोक, रूपंकर एवं प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ–साथ भारतीय नृत्य रांगीत की वैभवशाली धरोहर, रंगमंच, स्थापत्य, शिल्प, चित्रकला इत्यादि इस पत्रिका में व्यवहार और विमर्श की तरह सम्मिलित रहेंगे।

- शीर्षस्थ गायिका किशोरी अमोनकर से ध्रुपद गायक गुंदेवा बंधु की बातचीत।
- कथक नृत्यांगना पद्मश्री शोभना नारायण से आनंद सिन्हा की बातचीत।
- जेम्स प्रिंसेप के बनारस के स्केच संग्रह पर युवा कवि व्योमेश शुक्ल के नोट्स – 'एक बार फिर यह शहर बनाया जा सकेगा'।
- 'लोक बोलियों के अंतर्संवाद के आधार' पर श्यामसुंदर दुबे की विवेचना।
- ख्यातिप्राप्त चित्रकार प्रभाकर कोल्टे का कला चिंतन – 'आस्वाद : एक दर्शन प्रक्रिया'
- कथावाचक प्रेम प्रकाश पांडे की कथा वाचन परंपरा पर विहंगम दृष्टि।
- सुप्रसिद्ध पंडवानी गायिका तीजन बाई से महावीर अग्रवाल की बातचीत।
- जे. स्वामीनाथन और सैयद हैदर रज़ा के चित्रकर्म पर कवि, आलोचक और संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी से चित्रकार मनीष पुष्कले का संवाद।
- प्रसिद्ध चित्रकार अखिलेश द्वारा विश्वविख्यात रंगकर्मी हबीब तनवीर का एक व्यक्तिगत संस्मरण।
- रंगकर्म के जीनियस पंडित सत्यदेव दुबे का सत्यदेव त्रिपाठी द्वारा स्मरण।
- बांग्ला रंगमंच का इतिहास और वर्तमान पर कृपाशंकर चौबे का आलेख।
- गायक पंडित परमानंद यादव द्वारा अपने गुरु कुमार गंधर्व की कुछ यादें।
- बदलते भारतीय कला बाजार पर सीरज सक्सेना।
- हवेली रांगीत के मूर्धन्य गायक पंडित गोकुलोत्सव महाराज से देवेश वर्मा का संवाद।

और भी बहुत कुछ...

दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन (10–12 सितंबर, 2015) में प्रवेशांक का लोकार्पण।

संपादकीय संपर्क : 09764495276 ई–मेल : tanabana2015@gmail.com

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 3

संपादकीय

हिंदी के बारे में कई तरह के विचार और धारणाएं हमारे सामने उपस्थित होती रहती हैं। एक वर्ग जो हिंदी का कट्टर समर्थक है वह मानता है कि हिंदी अत्यंत सक्षम एवं उपयोगी भाषा है और पूरी दुनिया में इसको बोलने वालों की संख्या काफी विशाल है। यह वर्ग इस तथ्य को भी खारिज करता है कि हिंदी चीनी और अंग्रेजी के बाद तीसरी सबसे बड़ी भाषा है। उसके विचार में यह आकलन काफी पुराना है और सत्य से परे है, आज हिंदीभाषियों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक है। यह वर्ग अपने तर्कों से यह साबित करने का यत्न करता है कि हिंदी स्वाभाविक तौर पर विश्वभाषा बनने के काबिल है और देर-सबेर हिंदी को यह गौरव हासिल होना ही है।

एक दूसरा वर्ग है जो हिंदी की बेहद निराशाजनक तस्वीर सामने रखता है। वह मानता है कि हिंदी का कोई भविष्य नहीं है। उसका तर्क है कि हिंदी माध्यम से पढ़ाई करने पर नौकरी मिलने की संभावना दूर-दूर तक नहीं है। उसके विचार में हिंदी कहने को राष्ट्रभाषा-राजभाषा है लेकिन सही मायनों में यह अभी तक शिक्षा का माध्यम तक नहीं बन पाई है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र या विज्ञान-तकनीकी के क्षेत्र में अंग्रेजी न जानने वाले दो कदम भी नहीं चल पाएंगे। यह तो ठीक से कारोबार की भाषा भी नहीं बन पाई है। इस परिदृश्य में उनका मानना है कि इसे विश्वभाषा बनाने की बात करना दिवास्वप्न के सिवा कुछ नहीं। इनके अतिरिक्त देश-विदेश में ऐसे तमाम लोग हैं जो हिंदी को लेकर न तो बड़े-बड़े दावे करते हैं और न ही उसके बदतर हालात का रोना रोते हैं। उनका मानना है कि दुनिया भर में हिंदी की लोकप्रियता बढ़ रही है और लोग सहज ढंग से इसके प्रति आकर्षित हो रहे हैं। उनका तर्क है कि चूंकि भारत में बाजार और कारोबार की अनंत संभावनाएं हैं इसलिए विदेशों में भी लोग हिंदी सीख रहे हैं। विज्ञापनों की भाषा में हिंदी की बहुलता है और अंग्रेजी के विज्ञापनों में भी हिंदी का प्रयोग उसकी बढ़ती लोकप्रियता का प्रमाण है।

इन सबसे तटस्थ होकर विचार करें तो हिंदी न तो सरकारी प्रयास से बढ़ रही है और न हिंदी के साहित्यकार इसमें अपना योगदान दे रहे हैं। इस देश के जो सामान्य लोग हैं वह ही हिंदी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। भारत के विशाल बाजार के वही असली जनक हैं, वह लोग ही हिंदी बोलते हैं और उनके बच्चे ही हिंदी स्कूलों में पढ़ने के लिए जाते हैं। कहने का मतलब है कि हिंदी का जो संसार है उसे यहां के आमजन ने ही बड़ा बनाया है और हिंदी की लोकप्रियता बढ़ाने में उनका खासा योगदान है।

बहरहाल, हिंदी का जो परिदृश्य है वह कतई निराश करने वाला नहीं है। हिंदी धीमी गति से ही सही लगातार बढ़ रही है। हिंदी प्रकाशन जगत निरंतर तरक्की कर रहा है। हिंदी के अखबार और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया लगातार बढ़ रहे हैं। हिंदी सिनेमा लोकप्रियता के नए मानदंड स्थापित कर रहा है। विज्ञापन जगत में हिंदी की धूम है। यहां तक तो ठीक है लेकिन कई क्षेत्रों में हिंदी की हालत संतोषजनक भी नहीं है। उनमें शिक्षा का क्षेत्र सबसे महत्वपूर्ण है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी को सक्षम और उपयोगी बनाने का काम अभी पूरी तरह बाकी है। यह काम हो जाए तो बाकी क्षेत्र आसानी से सुधर जाएंगे। अत: निराश होने के बजाय इस काम को आगे बढ़ाने की जरूरत है। इसकी जिम्मेदारी निश्चित रूप से शिक्षाविदों और विद्वतजनों को निभानी होगी। शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी की स्थापना से ही हिंदी वास्तविक रूप में राष्ट्रभाषा बनने की ओर अग्रसर होगी।

भोपाल में दसवें विश्व हिंदी सम्मेलन को ध्यान में रखते हुए 'पुस्तक वार्ता' का यह संयुक्तांक हिंदी पर केंद्रित है। इस विशेष अंक में हिंदी भाषा, साहित्य, हिंदी की बोलियों एवं अन्य भारतीय भाषाओं पर केंद्रित कई महत्वपूर्ण आलेख हैं।

विमल झा

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 4

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 5

हिंदी भाषा और साहित्य

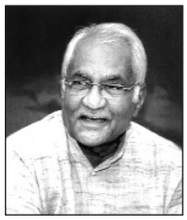

■ **विश्वनाथ प्रसाद तिवारी**
अध्यक्ष, साहित्य अकादेमी

संपर्क: 35, फिरोजशाह रोड,
नयी दिल्ली-110001

हिंदी साहित्य की मूल चेतना नैतिक चेतना है और यही उसका प्रमुख आयाम है जो कि सारी आलोचनात्मक कसौटियों से ज्यादा व्यापक और ज्यादा गंभीर है। इस नैतिक संवेदना से ही समता, स्वाधीनता और भ्रातृत्व के मूल्य भी निकलते हैं। इसी को आचार्य शुक्ल ने 'लोकमंगल' नाम दिया था। प्रेमचंद ने संभवतः इसीलिए अपने यथार्थवाद को 'आदर्शोन्मुख' कहा था।

किसी भाषा और साहित्य की अपनी अस्मिता होती है। उसकी रक्षा से ही उसकी पहचान भी बनती है और उसका विकास भी होता है। उसकी वह बुनियादी शक्ति ही दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। हिंदी भारत की जनभाषा है। वह भारतीय जन के भावों, विचारों और मूल्यों की वाहिका है। सूचना क्रांति और भूमंडलीकरण के इस दौर में मीडिया, बाजार और विज्ञापनों के दबाव में 'हिंदी' को 'हिंग्लिश' बनाने का प्रयास उसकी अस्मिता को नष्ट कर देगा। जैसे मारीशस में 'क्रिओल' नामक एक खिचड़ी भाषा बन गई। यह जरूर है कि नए संदर्भों में हिंदी को एक विश्व भाषा का रूप लेना है। उसे ज्ञान, विज्ञान, प्रौद्योगिकी और यांत्रिकी के साथ चलना है पर ऐसा उसे अपने अस्तित्व को समाप्त करके नहीं करना है।

निस्संदेह हिंदी भारतीय मूल के लोगों के साथ आज दुनिया के तमाम देशों में पहुंच गई है। दुनियाभर के विश्वविद्यालयों में वह पढ़ाई भी जा रही है। पर अपने ही घर में उसकी स्थिति सम्मानजनक नहीं है। भारत में मध्यवर्ग के हर खाते-पीते परिवार के बच्चे अंग्रेजी की गिरफ्त में है। केवल निर्धन और निरक्षर ही हिंदी की पंक्ति में खड़े हैं। वह भी अपनी मजबूरी के चलते। उनका भी सपना अंग्रेजी ही है। इसका कारण हीनता बोध की देशव्यापी काली छाया तो है ही, भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने की आकांक्षा और आवश्यकता भी है। जीविका, सुविधा और सम्मान के अवसर हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी में अधिक हैं। इस कटु यथार्थ की काट हमें निकालनी होगी।

जहां तक साहित्य का संदर्भ है, हिंदी साहित्य की एक समृद्ध परंपरा रही है और आज भी हिंदी की विविध विधाओं में विविध प्रकार का गंभीर और मूल्यवान साहित्य रचा जा रहा है जो संसार की किसी भी भाषा के साहित्य के साथ तुलनीय है। मगर इस संदर्भ में मैं एक विनम्र निवेदन करना चाहता हूं। हिंदी साहित्य का एक आयाम है उसका नैतिक आयाम। हिंदी साहित्य ने इसे अपनी समृद्ध परंपरा से, अपने आत्मवादी दर्शन और गहन गंभीर चिंतन से उपलब्ध किया है।

प्रेम, करुणा, अहिंसा और विराट सृष्टि के प्रति एकात्म भाव हिंदी साहित्य का एक ऐसा आयाम है जो हमेशा से विचारकों को आकृष्ट करता रहा है। एक बार मैंने एक आधुनिक रूसी आलोचक, जो कि हिंदी साहित्य के भी विद्वान अध्येता हैं, से पूछा कि हिंदी साहित्य में उन्हें सबसे अधिक आकृष्ट करने वाली चीज क्या लगी? उन्होंने उत्तर दिया- 'संयुक्त परिवार व्यवस्था'। थोड़ी देर के लिए तो मैं अचकचाया पर बाद में मुझे लगा कि यही बात तो गुरुदेव रवींद्रनाथ ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के बारे में कही थी। उन्होंने 'रामचरितमानस' को 'गार्हस्थ जीवन का महाकाव्य' कहा था। कहना न होगा कि परिवार और गार्हस्थ जीवन मनुष्य के अधिकांश नैतिक मूल्यों और भावनाओं का स्त्रोत है। कुटुम्ब-भाव ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक ले जाता है।

मुझे तो लगता है कि हिंदी साहित्य की मूल चेतना नैतिक चेतना है और यही उसका प्रमुख आयाम है जो कि सारी आलोचनात्मक कसौटियों से ज्यादा व्यापक और ज्यादा गंभीर है। इस नैतिक संवेदना से ही समता, स्वाधीनता और भ्रातृत्व के मूल्य भी निकलते हैं। इसी को आचार्य शुक्ल ने 'लोकमंगल' नाम दिया था। प्रेमचंद ने संभवतः इसीलिए अपने यथार्थवाद को 'आदर्शोन्मुख' कहा था। हिंदी साहित्य को अपने इस नैतिक आयाम की रक्षा करनी चाहिए। आज के अतिभौतिक और अतियांत्रिक जीवन-प्रवाह में यह एक आधार स्तंभ हो सकता है। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 6

हिंदी का परिदृश्यः यहां उजाले की कमी है

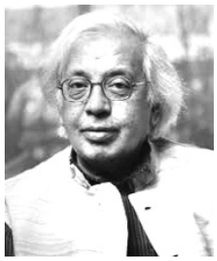

■ **अशोक वाजपेयी**
वरिष्ठ साहित्यकार

संपर्क : सी-60, अनुपम अपार्टमेंट, बी-13, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096

हिंदी में ज्ञान, विज्ञान, विचार की परंपरा नहीं विकसित हो पाने का जिम्मेदार स्वयं हिंदी समाज है। हिंदी समाज के पास अपना एक पढ़ा-लिखा और बौद्धिक वर्ग है। लेकिन, हिंदी का बौद्धिक वर्ग अपनी हिंदी से ही कुंठित दिखता है। बांग्ला, कन्नड़ या मलयालम के बुद्धिजीवी, भले इतिहास पढ़ते हैं या समाज विज्ञान में काम करते हैं, तो अपनी मातृभाषा में भी कुछ करने की कोशिश करते हैं। हिंदी में ऐसी कोई कोशिश नहीं दिखती।

भाषाओं का अपना एक भूगोल होता है और उनका अपना विस्तार भी होता है। हिंदी संसार में संभवत: एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसमें 46 बोलियां हैं। यानी यह 46 अलग-अलग तरीके से बोली जाती है। यह कोई मनगढ़ंत संख्या नहीं है। जनगणना आयोग की रिपोर्ट में कहा गया है कि हिंदी भाषा में 46 बोलियां हैं। हिंदी एक बोली बहुल भाषा है। इसे संभवत: संसार की सबसे अधिक बोली बहुल भाषा कहा जा सकता है। हालांकि यह मुख्यत: उत्तर भारत की भाषा है। आठ या नौ राज्यों को बाकायदा 'हिंदीभाषी राज्य' कहा जाता है। समय के साथ-साथ हिंदी भाषा के क्षेत्र में विस्तार होता गया और यह फैलती गई। इस समय यह एक अखिल भारतीय-सर्वदेशीय भाषा भी है। उसी अर्थ में, जिस अर्थ में अंगरेजी एक अखिल भारतीय भाषा है, लेकिन मराठी, बांग्ला आदि अखिल भारतीय भाषाएं नहीं हैं। हिंदीभाषी प्रवासी भी बहुत हैं। तो हिंदी को परिभाषित करने के लिए उसकी बोली बहुलता, उसकी भौगोलिक बहुलता, उसकी सांस्कृतक बहुलता को केंद्र में रखना जरूरी है।

किसी भाषा के बारे में उसमें लिखे जा रहे साहित्य भर से आश्वस्ति नहीं हो सकती। भाषा एक स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम है, लेकिन वह ज्ञानोत्पादन की भाषा भी है। हिंदी का सबसे कमजोर पक्ष है कि उसमें ज्ञानोत्पादन बहुत कम है। साथ ही इस ज्ञानोत्पादन को लेकर कोई बेचैनी हिंदी समाज में नहीं है, क्योंकि हिंदी का जो मध्यवर्ग है, वो अंगरेजी की नकल करने में लगा हुआ है। भारत में किसी भाषा में हिंदीभाषी मध्यवर्ग जैसा मध्यवर्ग नहीं है, जो अपनी भाषा के साथ लगातार विश्वासघात कर रहा है।

हिंदी भाषा को लेकर तीन बड़े पाखंड पिछले पचास वर्ष से चल रहे हैं। पहला पाखंड है कि, हिंदी भारतीय संघ की राजभाषा है। वास्तविकता में और व्यवहार में न तो वह भारतीय संघ की राजभाषा है और जिस तरह की प्रवृत्तियां हैं, उसके चलते आगे भी इसकी संभावना दिखाई नहीं देती। दूसरा पाखंड, हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा बनाने को लेकर है। यह अक्सर कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को मान्यता दिलाने के लिए अपेक्षित कोशिश नहीं की जा रही है। हालत यह है कि संयुक्त राष्ट्र की बैठकों या सम्मेलनों में भाग लेनेवाले भारत के अपने राजनयिक और राजनेता ही वहां हिंदी नहीं बोलते या नहीं बोल सकते, तो यह उम्मीद कैसे और किस आधार पर की जा सकती है कि दूसरे देश के लोग हिंदी बोलेंगे! तीसरा, एक बड़ा भारी पाखंड इसी महीने हो रहा है। यह सालाना पाखंड है- धूमधाम से मनाए जानेवाले 'विश्व हिंदी सम्मेलन' का।

हिंदी को लेकर एक भ्रम पैदा करने की कोशिश की जाती है कि हम 'विश्व भाषा' हैं। हम विश्व भाषा नहीं हैं। हम विश्व भाषा हो भी नहीं सकते क्योंकि हमारी ज्ञान संपदा, हमारी वैचारिक संपदा और इससे भी बढ़कर इन संपदाओं का उत्पादन क्षीण है।

जब हम जर्मन, स्पैनिश, अंगरेजी, अरबी या चीनी जैसी भाषाओं को देखते हैं, तो पाते हैं कि इनमें अपार बौद्धिक साहित्य और वैचारिक ज्ञान है। बहुत कुछ नया और उम्दा लिखा भी जा रहा है। ऐसा हिंदी में नहीं है। जो थोड़ा-बहुत है भी, हिंदी समाज स्वयं उसकी उपेक्षा करता है। अनुवाद का आलम यह है कि इसने हिंदी को अबूझ, दुर्बोध और भयभीत करनेवाली भाषा में तब्दील कर दिया है। अगर राजभाषा अधिकारी न होते, तो हिंदी राजभाषा बन गई होती। राजभाषा अधिकारी कही जानेवाली जमात ने बहुत ही अटपटी, अबूझ हिंदी में अनुवाद करके हिंदी को राजभाषा बनने से रोक

दिया। अगर ये ऐसा न करते, तो सामान्य लोग अपने ढंग से हिंदी को ढालते। वे अपनी जरूरतों के हिसाब से इसको गढ़ते, उसका विकास करते। इस समय जो राजभाषा है, उसका न तो हिंदी भाषा से कोई सीधा संबंध है और न साहित्य की हिंदी से कोई नाता है। एक भाषा की एक विचित्र-सी तीसरी कोटि बन गई है, जो 'ठग भाषा' है। इस भाषा को एक राजाभाषा अधिकारी दूसरे राजभाषा अधिकारी के पढ़ने के लिए लिखता है। आम हिंदीभाषी लोगों के समझने, उनके द्वारा इस्तेमाल में लाए जाने के लिए यह हिंदी नहीं लिखी जाती।

हिंदी में ज्ञान, विज्ञान, विचार की परंपरा नहीं विकसित हो पाने का जिम्मेदार स्वयं हिंदी समाज है। हिंदी समाज के पास अपना एक पढ़ा-लिखा और बौद्धिक वर्ग है। लेकिन, हिंदी का बौद्धिक वर्ग अपनी हिंदी से ही कुंठित दिखता है। बांग्ला, कन्नड़ या मलयालम के बुद्धिजीवी, भले इतिहास पढ़ाते हैं या समाज विज्ञान में काम करते हैं, तो अपनी मातृभाषा में भी कुछ करने की कोशिश करते हैं। हिंदी में ऐसी कोई कोशिश नहीं दिखती। हिंदी क्षेत्र के जो प्रसिद्ध विद्वान हैं, उनमें से अधिकांश ने अंगरेजी में लिखा है, हिंदी में कुछ नहीं लिखा। ऐसा लगता है कि हिंदी क्षेत्र के बुद्धिजीवी हिंदी से मुक्त हो जाना चाहते हैं।

भाषा के लिए हर स्थिति 'सुखद-दुखद' से ऊपर होती है। जो स्थिति होती है, उसका सामना करना होता है। दूसरी बात, अगर बाजार उसको फैला रहा है, तो यह उसके लिए सुखद भी हो सकता है लेकिन बाजार उसको घटिया और बाजारू भी बना रहा है और इसमें मीडिया की बड़ी भूमिका है। हिदी को भ्रष्ट करने में बाजार के बजाय मीडिया की ज्यादा भूमिका है। खासतौर से हिंदी मीडिया की भूमिका। हिंदी मीडिया को अगर देखें, तो हिंदी समाज के बारे में यह नतीजा निकालेंगे कि इस समाज को हर चीज की चिंता है, लेकिन अपनी संस्कृति, अपने साहित्य, अपनी कलाओं, अपनी पुस्तकों, अपने ज्ञान, अपने विचार की कोई चिंता नहीं है, न उसकी इनमें कोई दिलचस्पी है।

दिलचस्प बात यह है कि हिंदी को, अंगरेजी या हिंग्लिश बनाने का काम या अंगरेजी की नकल करने का काम, जो लोग कर रहे हैं, वे अच्छी अंगरेजी नहीं जानते। अधिकांश हिंदीभाषियों का अंगरेजी ज्ञान बहुत ही दरिद्र है और इसमें मीडिया के लोग भी हैं। मुझे हिंदी मीडिया में ऐसे लोग बहुत कम मिले हैं, जिनके अंगरेजी ज्ञान के बारे में मुझे कोई आश्वस्ति हो। अब तो ज्यादातर ऐसे हैं, जो न ठीक से हिंदी जानते हैं, न अंगरेजी जानते हैं। वे बस नकल करते हैं।

अंगरेजी के अखबारों को अगल देखा जाए, तो कुल मिलाकर यह साफ महसूस किया जा सकता है कि अंगरेजी के अखबार भाषा के प्रति अधिक सजग हैं। वहां भी अंगरेजी बदली है। दूसरी भाषाई पत्रिकाओं और अखबारों में भी अपनी भाषा के प्रति कहीं ज्यादा सजगता और प्रतिबद्धता नजर आती है। बांग्ला, कन्नड़, मराठी आदि के पत्रों को देखें, तो अपनी भाषा के प्रति सजगता साफ दिखलाई देती है। लेकिन हिंदी अखबारों में भाषा के बारे एक लापरवाही है। यह लापरवाही भाषा-प्रयोग और हिज्जे दोनों के स्तर पर है।

हर भाषा अपनी जातीय स्मृति का संग्रहालय होती है। इसलिए भाषा को बचाना जरूरी है। फिर वह हिंदी हो या और कोई भाषा। लेकिन संरक्षित करने और बचाने का काम मूलत: हिंदीभाषी समाज को ही करना होगा। यह काम न तो सरकार कर सकती है, न सत्ता, न राजनीति। इनमें से किसी से यह उम्मीद करना बेमानी है। भाषा तो भारतीय राजनीति के ऐजेंड में है ही नहीं। कोई राजनीतिक दल भाषा के बारे में रत्ती भर भी सक्रिय नहीं है।

भाषा के प्रश्न को स्वाभिमान और गौरव के प्रश्न से जोड़ कर देखा जाता था। अब स्वाभिमान और गौरव को तो छोड़िए, भाषा की अपनी पहचान के दिन भी लद गए हैं। हम, खास कर हिंदी में पढ़े-लिखे लोग तो इस मानिसकता में पहुंच गए हैं, कि हमको जितनी जल्दी और जितनी फुर्ती से हो सके अमेरिकी बन जाना चाहिए हर हालत में, अपने मनोरंजन में, अपने पहनावे में, अपनी भंगिमाओं में, अपनी भाषा में। ऐसे अनुकर्ता-नकलकर्ता समाज की भाषा कौन बचायेगा?

हिंदी भाषा की स्थिति बेशक खराब है, लेकिन हिंदी भाषा में साहित्य अभी भी अच्छा लिखा जा रहा है। यह गलत भ्रम फैलाया जाता है कि अब हिंदी में उत्कृष्ट लेखन नहीं हो रहा है। हर समय लिखनेवालों की संख्या के मुकाबले अच्छा और महत्वपूर्ण लिखनेवालों का प्रतिशत कम होता है। छायावाद के समय चार हजार कवि थे, बचे चार। यह हर युग में हुआ है। ये कोई नई बात नहीं है। इस समय भी हिंदी में जो साहित्य लिखा जा रहा है, वो भारतीय परिदृश्य में सबसे महत्वपूर्ण साहित्य में गिने जाने योग्य है, सिवाय इसके कि हिंदी समाज अपनी इस उपलब्धि से भी गाफिल है, उसको इसका पता ही नहीं है।

हिंदी के भविष्य को देखता हूं, तो हिंदी में न तो मुझे रोजगार की संभावनाएं बढ़ती दिखती हैं, न विचार की संभावनाएं बढ़ती दिखती हैं और न उससे लोगों के लगाव के बढ़ने की संभावना दिखती हैं। यह बहुत ही निराश करने वाला परिदृश्य है। हालांकि कोई भाषा इतनी आसानी से समाप्त नहीं होती है।। भाषा तो बनी रहेगी लेकिन शायद लस्त-पस्त तरीके से। लेकिन इस समय जो दृश्य है, उसमें उजाले की कमी है। शायद यह मेरी बूढ़ी उम्र का भी असर हो, कि मुझे उजाला नजर नहीं आ रहा। मैं इस समय हिंदी में सबसे निराश व्यक्तियों में हूं। ■

प्रस्तुति: प्रीति सिंह

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 8

सुझाव

राजभाषा की नहीं, हिंदी की चिंता करें

■ **विश्वनाथ त्रिपाठी**
वरिष्ठ साहित्यकार

संपर्क: बी-5 / एफ-2,
दिलशाद गार्डन,
दिल्ली - 110095

हर समय, सभ्यता के हर दौर में भाषा में नए-नए शब्द, दूसरी भाषाओं के शब्द, विरूपित शब्द शामिल होते रहे हैं। भाषाओं का शब्द भंडार इससे समृद्ध ही हुआ है। हां, इससे यह जरूर होता है कि पुराने शब्द धीरे-धीरे कम इस्तेमाल में लाए जाने के कारण सिर्फ शब्दकोशों में रह जाते हैं।

भाषा का कोई दिवस मनाया जाए, यह विचार एक स्तर पर सराहनीय तो है, लेकिन हिंदी के संदर्भ में ऐसे किसी रस्मी दिवस की जरूरत मैं नहीं देखता। हिंदी लोकजीवन में बसी एक जीवंत भाषा है। यह किसी दिवस की मुखापेक्षी नहीं है। हिंदी को लेकर तमाम तरह की चिंताएं दिल्ली की गोष्ठियों में जाहिर की जाती रहती है। इस भाषा के वर्तमान और भविष्य को लेकर नकारात्मक बातें, मसलन, 'भाषा नष्ट हो रही है', 'इस्तेमाल में नहीं लाई जा रही है', 'अंगरेजी हिंदी पर हावी होती जा रही है', करनेवालों की कमी नहीं है। हिंदी दिवस पर होनेवाले कार्यक्रमों और अखबारों-पत्रिकाओं में होनेवाले आयोजनों में इस तरह की बातों की भरमार होती है। ऐसा आज से नहीं है। हिंदी को लेकर इस तरह की 'अंतवादी दृष्टि' आजादी के बाद से रही है, लेकिन इसके बावजूद हिंदी न सिर्फ जीवित है बल्कि फल-फूल रही है। हिंदी अखबार बड़ी संख्या में पढ़े जा रहे हैं। हिंदी अखबारों को पढ़नेवालों की संख्या पहले के किसी भी समय की तुलना में आज ज्यादा है। हिंदी समाचार चैनल भी खूब चल रहे हैं। वे क्या दिखा रहे हैं, यह बात अलग है।

हिंदी को लेकर, जितनी नकारात्मक बातें की जाती हैं, वे दिल्ली से बाहर पैर निकालते ही खत्म होती दिखती हैं। दिल्ली से गाजियाबाद में दाखिल होइए, तो हिंदी दूसरे ही रूप में दिखाई देगी। दिल्ली से हिंदी बोलनेवाले राज्यों के भीतरी हिस्सों में जाइए आपको हिंदी के महत्व और कई बार तो इसके आतंक तक का पता चलता है। यहां अंगरेजी का वैसा वर्चस्व नहीं दिखेगा। देश के थोड़ा अंदर दाखिल होने पर हम पाते हैं कि हिंदी शब्द, विभिन्न स्तरों पर, खासकर सरकारी कामकाज के मामले में प्रचलित अंगरेजी शब्दों का स्थान ले चुके हैं। इसलिए हिंदी को लेकर व्यक्त की जानेवाली चिंता को मैं कृत्रिम चिंता मानता हूं।

यह सवाल उठाया जाता है कि हिंदी पर अंगरेजी का दबाव बढ़ रहा है। हिंदी भाषा में अंगरेजी शब्दों की भरमार हो रही है। हिंदी की जगह एक नई संकर भाषा- 'हिंग्लिश' लिए जा रही है। यहां हमें दो बात समझनी होगी। पहली बात, भाषा अकादमिक से ज्यादा वर्गीय समस्या है। देश में बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेट संस्कृति में अंगरेजी का ज्यादा बोलबाला है। अब यही वर्ग है, जिसे प्रगति के तौर पर दिखाया जाता है। इस वर्ग के पास पैसा है। खर्च करने की शक्ति है। इसलिए यह वर्ग महत्वपूर्ण बन गया है। अंगरेजी मूलतः इसी समाज में ज्यादा प्रयोग में लाई जाती है। इस समाज से बाहर निकलिए तो अंगरेजी का स्थान हिंदी और देशी भाषाएं ले लेती हैं। दूसरी बात, भाषा शब्द समूह का संचय या समुच्चय नहीं है। भाषा बनती है, व्याकरण से। भाषा की विशेषता, उसके शब्द से ज्यादा, उसकी व्याकरणिक ढांचे में छिपी है। हिंदी पढ़नेवाले यह बात मानेंगे कि शब्द भंडार की दृष्टि से देखें, तो हिंदी के शब्द भंडार में लगातार बदलाव होते रहे हैं और इसमे नए शब्द आते रहे हैं।

हर समय, सभ्यता के हर दौर में भाषा में नए-नए शब्द, दूसरी भाषाओं के शब्द, विरूपित शब्द शामिल होते रहे हैं। भाषाओं का शब्द भंडार इससे समृद्ध ही हुआ है। हां, इससे यह जरूर होता है कि पुराने शब्द धीरे-धीरे कम इस्तेमाल में लाए जाने के कारण सिर्फ शब्दकोशों में रह जाते हैं, और लोक-जीवन में विस्मृत हो जाते हैं। लेकिन अगर उदाहरण देकर कहूं, तो राजभाषा के तहत जिस तरह के अनुवाद को प्रचलित करने की कोशिश की गई, वह अंगरेजी के इस्तेमाल से कहीं ज्यादा कृत्रिम थी। अगर किसी शब्द के लिए बोलने में आसान, छोटा और बात को सही तरह से और ज्यादा बेहतर तरीके से संप्रेषित करनेवाले शब्द मिल जाएं, तो उन्हें अपनाने में कोई दिक्कत नहीं होनी चाहिए। शब्दों पर किसी खास देश या संस्कृति का विशेषाधिकार नहीं होता है। शब्द सीमाओं के पार आवाजाही करते हैं। इसलिए अंगरेजी के शब्द आने पर बहुत ज्यादा चिंतित होने की जरूरत नहीं है। नए शब्दों

को अपनाने को भाषाई अस्मिता के सवाल से जोड़ने की भी जरूरत नहीं है। जब नए-नए विचार आते हैं, तब नये-नये शब्द भी आते हैं। नया ज्ञान-विज्ञान अपने साथ नये शब्द लेकर आता है। ऐसा लगातार होता आया है। औद्योगिक क्रांति के बाद से इस तरह के नए-नए शब्द आते रहे हैं। औद्योगिक संस्कृति भी, पुरानी संस्कृति से भिनन है, इसलिए यह अपने आप को अभिव्यक्त करने के लिए नए शब्दों का इस्तेमाल करती है।

भारत की ही बात करें, तो हम पाते हैं कि जिसे हम आज हिंदी प्रदेश कहते हैं, उसकी भाषा लगातार बदलती रही है। समय के साथ भाषाओं का बदलना, भाषा का स्वाभाविक गुण है। जिस अंगरेजी से हम आतंकित रहते हैं, वह अंगरेजी भी तेजी से बदल रही है। इसलिए भाषाओं को उनके प्राकृतिक पथ पर बढ़ने के लिए छोड़ देना चाहिए। तो इसका मतलब क्या यह है कि हिंदी कभी, बदलते-बदलते लुप्त हो जायेगी ? फिलहाल ऐसी कोई संभावना मैं नहीं देखता हूं। यह सही है कि आज की भाषा पर बाजार का दबाव है। और भाषा में जो बदलाव हो रहे हैं, उनमें इस दबाव का बड़ा हाथ है। लेकिन ऐसा कहते वक्त, हम यह मान लेते हैं कि बाजार, अपने आप में कोई हमसे भिन्न चीज है, या हमारी सभ्यता-संस्कृति का हिस्सा नहीं है। बाजार हमेशा बुरा नहीं होता है। पूंजीवाद भी बहुत सारी अच्छी चीजें करता है। यह सामंतवाद के शोषण को समाप्त करने का काम करता है। लेकिन, हमारे यहां स्थिति इतनी सरल नहीं हैं। पूंजीवाद का लक्ष्य ही है, ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना। वह मनुष्य का ज्यादा से ज्यादा उपयोग करता है। यहां पैसा ही अपने आप मे मूल्य है। यह एक तरह की खामख्याली है कि आप बाजार का उपयोग कर सकते हैं भाषा की शक्ति में विस्तार देने के लिए। यह तय है कि बाजार ही इसका उपयोग करेगा। वह भाषा के नए-नए रूप ईजाद करेगा। यह भाषा मूलत: विज्ञापन की भाषा है। इसमें भाषा के कई रूप दिखाई देते हैं। विज्ञापन, फिल्में, धारावाहिक मनोरंजन के नाम पर, सूचना प्रसार

जे पी त्रिपाठी की एक कलाकृति

के नाम पर भाषा को अपने फायदे के अनुरूप गढ़ रही हैं। भाषा के जिस स्वाभाविक विकास की बात हमने की, बाजार के हाथों वह स्वाभाविक विकास की शृंखला टूट जाती है। बाजार की भाषा में गालियां ज्यादा हैं। हिंसा की छवियां ज्यादा हैं। इसने भाषा को ज्यादा आक्रामक और हिंसक बनाया है। हमारे यहां पूंजीवाद और सामंतवाद की कुरूपता एक हो गयी हैं। भाषा के सवाल को हमें, इस व्यापक संदर्भ में देखना चाहिए।

जब हम हिंदी की बात करते हैं, तो हमारा मतलब राजभाषा या मानक भाषा से होता है। यह भाषा कृत्रिम भाषा है। यत्नपूर्वक गढ़ी गई भाषा है। भाषा को लेकर बनाई गई यह समझ ही गलत है। कबीर ने भाषा को 'बहता नीर' कहा है। नदी जब बहती है, तो वह एक ही रेखा में, लगातार नहीं बहती। वह पुराने तटबंधों को तोड़ते हुए बहती है। कभी-कभी तो वह अपना पूरा मार्ग ही बदल लेती है। फिर भी मार्ग बदल लेने के बाद भी, नदी वही होती है। अपने स्वरूप में हुए परिवर्तनों के बावजूद हिंदी मूलत: बदली नहीं है। उसमें जो बदलाव हो रहे हैं, वह किसी भी भाषा में होते हैं। एक बात और कहा जाना चाहिए कि जिसे हम हिंदी कहते हैं, उसमें इस क्षेत्र की कई बोलियां शामिल हैं। हिंदी की असली चिंता, इन बोलियों की चिंता हो सकती है। एक सच यह है कि जिस तरह से हम हिंदी के ऊपर अंगरेजी के प्रभाव से भयभीत होते हैं, उससे ज्यादा प्रभाव मानक भाषा का हिंदी की बोलियों पर पड़ रहा है।

हिंदी भी अपने आप में एक वर्चस्ववादी भाषा है। हिंदी को अगर हम जातीय भाषा कहते हैं, तो इसलिए कि हमारा जातीय साहित्य हिंदी की बोलियों में रचा गया है। इसलिए, इन बोलियों को बचाना भी हमारी प्राथमिकता

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 10

होनी चाहिए। यह हमारी जातीय अस्मिता की रक्षा के सवाल से जुड़ा हुआ सवाल है।

हिंदी के बारे में यह कहना कि यह महज साहित्य और अनुवाद के रूप में राजकाज की भाषा बन कर रह गई है, एक हद तक सही है। हिंदी में समाजशास्त्र और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक लेखन की कमी दिखती है। ऐसा आजादी से पहले तक नहीं था। लंबे समय तक पत्र-पत्रिकाओं मे विभिन्न विषयों पर मौलिक सामग्री के प्रकाशन की परंपरा दिखाई देती है। नागरी प्रचारिणी सभा से कई किताबें हिंदी में आयुर्वेद, इतिहास, भौतिकी आदि विषय में मूल रूप में आई थीं। आज इस क्षेत्र में मूलत: अनुवादों का आधिक्य है। कुछ अच्छे अनुवादों को छोड़ दें, तो अनुवादों का स्तर अच्छा नहीं कहा जा सकता है।

वास्तव में अनुवाद और प्रूफ की समस्या आज की हिंदी की बड़ी समस्या है। अंगरेजी में भी दुनिया भर की भाषाओं की किताबों का अनुवाद हुआ है। इन किताबों को पढ़ कर दुनियाभर के साहित्य और समाज-विज्ञान से परिचित हुआ जा सकता है। लेकिन हमारे यहां अनुवाद को कम गंभीरता से लिया जाता है। हिंदी के शुरुआती दिनों में ही हमारे यहां 'विश्व प्रपंच' जैसी किताब छपी थी, जिसका अनुवाद विश्वस्तरीय कहा जा सकता है। इसके साथ ही देशी भाषाओं से भी हिंदी में अच्छे अनुवाद होते थे। मराठी से हिंदी में तिलक द्वारा लिखे गए 'गीता-रहस्य' का अनुवाद इसका अच्छा उदाहरण है। 1905 ईस्वी में सखाराम गणेश देउस्कर ने 'देशेर बात' नाम से एक बांग्ला पुस्तक लिखी थी। उसका अनुवाद बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 'देश की बात' नाम से किया था। यह पुस्तक दोनों भाषाओं में खूब बिकी। आज ऐसी किताबें कम हैं। अंगरेजी से तो अनुवाद हो भी रहे हैं, देशी भाषाओं की किताबों के अच्छे अनुवाद कम मिलते हैं।

अनुवाद भाषा की कमजोरी नहीं है। मौलिक किताबों की तुलना में अनुवाद की गई किताबों का महत्व कतई कम नहीं है। लेकिन, आज हमारे यहां, अनुवाद की गई किताबों में से अधिकांश पढ़ कर आसानी से समझने के लायक नहीं होते हैं। हिंदी के लिए यह चिंता का विषय है। हिंदी को विदेशी भाषाओं और देशी भाषाओं के बीच पुल के तौर पर काम करने के लिए, अनुवाद का बेहतर होना जरूरी है, लेकिन 'हिंदी प्रेमियों' का ध्यान भी इस ओर नहीं है।

हिंदी भी अपने आप में एक वर्चस्ववादी भाषा है। हिंदी को अगर हम जातीय भाषा कहते हैं, तो इसलिए कि हमारा जातीय साहित्य हिंदी की बोलियों में रचा गया है। इसलिए, इन बोलियों को बचाना भी हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए। यह हमारी जातीय अस्मिता की रक्षा के सवाल से जुड़ा हुआ सवाल है।

हिंदी का नुकसान, इसकी रोटी खानेवालों ने भी किया है। उदाहरण के तौर पर हिंदी अखबारों की भाषा और भाषा में प्रूफ की गलतियों का उदाहरण लिया जा सकता है। हिंदी अखबारों में भाषा, अनुवाद की भाषा बन गई है। इससे भाषा की स्वाभाविक संरचना पर असर पड़ा है। वहीं, अच्छे-अच्छे अखबारों में आज प्रूफ की काफी गलतियां दिखाई देती हैं। तर्क दिया जाता है कि हिंदी अखबारों में पैसे कम मिलते हैं। लेकिन, यह कोई जवाब नहीं है। गीता प्रेस से एक पत्रिका निकलती है- 'कल्याण'। उसकी भाषा को भी देखिए, तो उसमें प्रूफ की गलती खोजे से नहीं मिलती। भाकपा की पत्रिका निकला करती थी 'जनयुग' के नाम से। उसमें भी प्रूफ या भाषा की गलतियां नहीं मिलती थीं। अगर कोई गलती रह गई तो उसे कलम से ठीक किया जाता था। यह भाषा के प्रति आपके प्रेम को बतलाता है। यह बतलाता है कि भाषा को आप कितना महत्व देते हैं। अंगरेजी या दूसरी भाषाओं के अखबारों-पत्रिकाओं की स्थिति ऐसी नहीं है। उनमें गलतियां काफी कम मिलती हैं। हिंदी से छोटी भाषाओं के अखबार भी इस मामले में हिंदी से बेहतर हैं। वे अपनी भाषा के प्रति काफी सजग रहते हैं। हमारे यहां, भाषा को लेकर विलाप का तो भाव है, लेकिन इसके प्रति सजगता नहीं है।

यह सही है कि बहुत हद तक हिंदी भाषा साहित्य की भाषा बन कर रह गई है। यहां यह सवाल भी उठाया जाता है कि हिंदी साहित्य की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। 'हिंदी साहित्य' से जुड़े हर व्यक्ति को हिंदी का प्रेमी तो कहा ही जा सकता है। लेकिन भाषा को लेकर अपनी जिम्मेवारी को वे भी नहीं निभा रहे हैं। जिन्हें हिंदी से प्रेम है, उन्हें किताबों की अच्छी समीक्षाएं लिखनी चाहिए। किताबों पर पक्षपात से रहित होकर, टिप्पणी करनी चाहिए। सिर्फ मुंहदिखाई के लिए की गई समीक्षाओं ने हिंदी का और हिंदी साहित्य का नुकसान किया है। इससे हिंदी साहित्य ने खुद को बेहतर बनाने की प्रेरणा खो दी है। जो लिखा जा रहा है, उससे बेहतर लिखा जाना चाहिए, यह भाव नहीं दिखाई देता।

वास्तव में हिंदी बाहरी समस्याओं से नहीं, आंतरिक समस्याओं से ज्यादा जूझ रही है। बदलाव के बाहरी कारकों से ज्यादा से ज्यादा हिंदी को अपने अंदर से जूझने की जरूरत है। हिंदीभाषियों को राजभाषा हिंदी की चिंता करने की जरूरत नहीं है। यह काम दूसरी भाषाओं वालों के लिए छोड़ देना चाहिए। ■

प्रस्तुति: अवनीश मिश्र

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 11

संदर्भ

भाषा भारती हिंदी की गरिमा का सवाल

■ **गिरीश्वर मिश्र**
वरिष्ठ मनोविज्ञानी
एवं भाषाविद

संपर्क : कुलपति,
महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की स्थापना इस कड़ी में महत्वपूर्ण है कि इसे हिंदी भाषा, साहित्य और विमर्श की विविध प्रकार की बौद्धिक पहलों के द्वारा अंतरराष्ट्रीय फलक पर प्रतिष्ठा दिलाने के लिए स्थापित किया गया।

भाषा मानवीय सर्जना और रचनात्मकता की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। भाषा की सहायता से हम अपने को अभिव्यक्त करते हैं, दूसरों के साथ जुड़ पाते हैं और अपने तमाम जीवन-व्यापारों को संचालित कर पाते हैं। भाषा में ही हमारी रिहायश होती है, उसी में हम जीते हैं और भाषा से ही सारे जगत का प्रत्यक्ष होता है। भाषा से विभिन्न समूहों का बोध उपजता है और उनकी अपनी स्वतंत्र पहचान बनती है। तभी तो अंग्रेज, फ्रांसीसी, बंगाली, तमिल, और कन्नड़ जैसे भाषावाची शब्दों का उपयोग भाषाओं के प्रयोक्ता समूहों को इंगित करने के लिए किया जाता है। भाषा के सहारे हम दुनिया को न केवल समझते-बूझते हैं और अपने आप को व्यक्त करते हैं बल्कि उससे आगे बढ़कर कल्पना करने और सृजन के लिए भी उसका उपयोग करते हैं।

यहां पर यह भी याद रखना उचित होगा कि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भारत की भाषाओं का स्वरूप विशिष्ट प्रकार का है। कुछ भाषाविद तो यह मानते हैं कि समूचा भारत 'एकभाषिक क्षेत्र' है। ऐसा सोचने का आधार यह तथ्य है कि भारोपीय परिवार की कई भारतीय भाषाएं स्वयं अपने भाषा-परिवार की भाषाओं से तो भिन्न हैं पर भारत के अन्य भाषा-परिवारों की कुछ भाषाओं के अधिक निकट हैं। यह तथ्य एक गहरी सामाजिक-सांस्कृतिक एकात्मकता को द्योतित करता है। इन भाषाओं में ध्वनि, शब्द, वाक्य तथा लिपि इन सब दृष्टियों से काफी समानता दृष्टिगत होती है। यह भी गौरतलब है कि ज्यादातर भारतीय भाषाओं की ध्वन्यात्मक व्यवस्था लगभग एक जैसी ही है।

हिंदी के शब्द-भंडार पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका शब्द भंडार मुख्यत: भारतीय आर्यभाषा का ही है। इसके शब्द संस्कृत से तो आए ही, वहां से पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से होकर हिंदी और अन्य भाषाओं में गए। इनमें तद्भव और देशज दोनों ही तरह के शब्द शामिल हैं। हिंदी ने अनेक भारतीय भाषाओं से उदारता के साथ शब्द लिए हैं। उसका शब्द जगत अपने अंदर बहुतेरी भाषाओं के शब्दों को समोए हुए है। इसमें जहां अरबी मूल का 'असर', 'किताब', और 'मालूम' है तो फारसी शब्द 'चश्मा', 'औरत', और 'कालीन' व चाकू, दरोगा और चोगा जैसे तुर्की शब्द भी शामिल हैं। अंग्रेजी भाषा का 'स्टेशन', 'रेल', 'कोट', 'क्लर्क' आदि शब्द भी हिंदी में सम्मिलित हो चुके हैं। इससे लगता है कि एक अखिल भारतीय शब्द संपदा है जो अंत:सलिला की तरह भारतीय भाषाओं में चारों ओर प्रचलित-प्रवाहित है।

आज हिंदी निश्चित रूप से एक व्यापक भाषा है जिसका उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, मध्यप्रदेश, झारखंड और छत्तीसगढ़ के प्रदेशों में शिक्षा, काम-काज और दैनिक जीवन में आम आदमी द्वारा प्रयोग किया जाता है। इसके अलावे महानगरों और गुजरात एवं महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में भी इसे बोलनेवालों की काफी बड़ी तादात है। अहिंदी भाषा-भाषी प्रदेशों में भी हिंदी समझने वालों की संख्या अन्य भाषाओं को बोलने वाले जनों की तुलना में ज्यादा है। इस बात का भी पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि हिंदी भाषा क्षेत्रीयता की भावना से ऊपर उठकर पूरे देश से जुड़ती रही है। अनेक क्षेत्रों और भिन्न-भिन्न मतावलंबी साधु-संतों ने इसे प्रेमपूर्वक अपने हृदय से लगाया।

पर एक बड़ा सच यह भी है कि आज अंग्रेजी यहां की नौकरशाही, उच्च सामाजिक वर्ग और ज्ञान के क्षेत्र में अधिक समादृत है और यह एक मॉडल का काम करती है। अपने लिखित रूप में अंग्रेजी और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि अधिकांश दस्तावेजों के मूल रूप इसी भाषा में स्वीकार्य-प्रामाणिक माने जाते हैं। पर यह तथ्य है कि अभी भी आम जनता के प्रयोग की भाषा अंग्रेजी नहीं है और न बन सकेगी। एक अनुमान के अनुसार अंग्रेजी को सिर्फ दस प्रतिशत भारतीय ही काम में लाते हैं। शेष नब्बे प्रतिशत इसे नहीं समझ

पाते हैं। अंग्रेजी का आभिजात्य से गहरा रिश्ता है और उसे ही गंभीर विचार-विमर्श के लिए योग्य माना जाता है। यह विडंबना ही है कि उन विदेशी अंग्रेजों को हिंदी बोलने-लिखने की योग्यता प्राप्त करनी होती थी जो भारत में नौकरी के लिए आते थे पर आज एक भारतीय को भारत में नौकरी के लिए अंग्रेजी की योग्यता महत्वपूर्ण और अपरिहार्य-सी हो गई है। आज का सूत्र यही है- 'हिंदी न जानने से कोई खास फर्क नहीं पड़ता पर अंग्रेजी तो जरूर आनी चाहिए।'

अंग्रेजी के पक्षधर मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा समाज के आर्थिक विकास की कुंजी है पर कटुसत्य यह है कि अंग्रेजी की बाध्यता का मनोभाव न केवल देश के आर्थिक विकास को घटा रहा है बल्कि गुणवत्ता और कौशल वाली शिक्षा पाने के लक्ष्य तक पहुंचने में भी बाधा बन रहा है। भारत जैसे देश में जहां ज्यादातर लोग अंग्रेजी नहीं बोलते हैं और कुछ थोड़े-से लोग घर पर अंग्रेजी बोलते हैं हर किसी को अंग्रेजी बोलना सिखा पाना या सभी को अच्छी अंग्रेजी शिक्षा मुहैया करा पाना एक असंभव सा लक्ष्य है।

आज स्थिति है कि नीति, न्याय, शोध, स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में ऊंचे स्तर पर ज्यादातर महत्वपूर्ण काम अंग्रेजी में ही संपन्न किये जाते हैं। अत: अंग्रेजीदां शिक्षित भारतीय जो आधुनिक ज्ञान का उपयोग कर रहे हैं या उसमें योगदान कर रहे हैं वे एक ऐसी भाषा में कर रहे हैं जो बहुसंख्यक भारतीयों के लिए निर्विवाद रूप से एक पराई भाषा है। वे समाज से कटते जा रहे हैं और एक अनोखी किस्म की आधुनिकता को खुद ओढ़ रहे हैं और दूसरों पर थोप रहे हैं। पर हिंदी जैसी भारतीय भाषा में गंभीर बौद्धिक विमर्श का अभाव उस भाषा के विकास और उपयोग की संभावना को प्रतिबंधित कर देता है। इसका परिणाम यह है कि इन्हीं देशों के गैर अंग्रेजीभाषी (जैसे- चीनी, जापानी, फेंच या जर्मन) लोगों की तुलना में गैर अंग्रेजीभाषी भारतीयों की ज्ञान विज्ञान अत्यंत सीमित हो जाती है।

आज अंग्रेजी स्कूलों की पूरे भारत में बाढ़-सी आ गई है। इनमें से ज्यादातर ऐसे होते हैं जिनकी गुणवत्ता संदिग्ध है। चूंकि अधिकांश बच्चों के लिए विचार, संप्रत्यय और भाषा सभी को सीखने की जरूरत होती है वे अपने भाषाई जीवन में मौलिक के बदले अनुवाद में जीना शुरू कर देते हैं। यह कार्य प्रारंभिक शिक्षा से ही शुरू हो जाता है। फलत: उन बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि कम होने लगती है।

अधिकांश भारतीय बच्चे जिन्हें शुरू में अंग्रेजी पढ़ाई जाती है वे प्रकार्यात्मक नजरिए से अनपढ़ से ही होते हैं क्योंकि वे उस भाषा को जान रहे होते हैं जिसे उन्होंने अच्छी तरह से नहीं सीखा है। अपरिचित विदेशी भाषा द्वारा सीखना बच्चे की सीखने की प्रगति को धीमा कर देता है। दिमाग को अपरिचित भाषा में अनुवाद करने में कुछ ज्यादा समय लगता है। उच्च स्तर के चिंतन के लिए एक साथ कई भाषाओं में सूचना प्राप्त कर पचा पाना ज्ञान के सम्यक् विकास को अवरुद्ध करता है। ज्ञानार्जन और मातृभाषा से अलग एक अन्य भाषा जैसे-अंग्रेजी को सीखना, ये दोनों काम तभी अच्छे ढंग से हो सकते हैं जब खुद उनके पास एक मूल भाषा की दक्षता पहले से मौजूद रहती है।

अभी तक हिंदी भाषा को उसकी गरिमा के अनुरूप स्थान नहीं मिल सका है और उसका संतोषजनक विकास नहीं हो सका है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हिंदी माध्यम के छात्रों को संबंधित क्षेत्रों में निम्नस्तर के ज्ञान और कौशलोंवाला माना जाता है। यह छवि उनके लिए रोजगार के अवसरों को अत्यंत सीमित कर देती है। आज हिंदीभाषी युवाओं की एक बड़ी तादात असफल होने के कारण दिन-प्रतिदिन कुंठा और तनाव का शिकार होती जा रही है। इसलिए हिंदी के अध्ययन-अध्यापन में एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिए हिंदी को सशक्त बनाने के लिए गंभीर प्रयास आवश्यक है। ऐसा करना सामान्य जन के सशक्तीकरण और

लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उसकी सक्रिय सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिए जरूरी है। प्रजातंत्र में भागीदारी और सुशासन को सुलभ कराने के लिए सरल और ग्राह्य हिंदी का प्रसार आवश्यक है।

भाषा हमारे निजी और सामाजिक जीवन में बड़ी अहमियत रखती है पर उसकी प्रतिष्ठा इस पर निर्भर करती है कि हम उसका कितना उपयोग करते हैं। भारत में अंग्रेजों के लंबे औपनिवेशिक राज के दौरान अंग्रेजी भाषा को अकादमिक, बौद्धिक और प्रशासनिक कार्यों को संपादित करनेवाली भाषा का दर्जा दिया गया। अंग्रेजी एक मानक भाषा बन गई और साथ ही भारतीय समाज में सांस्कृतिक विस्मरण की शुरुआत हुई और भारतीय समाज को अपनी अस्मिता को लेकर संदेह और ग्लानि के भाव पैदा होने लगे। यह सब बिना जांचे आयातित मानक के अनुसार था जिन्हें बिना जाने-पहचाने विज्ञानसम्मत' और 'निरपेक्ष' या 'तटस्थ' स्वीकार लिया गया था। आज अंग्रेजी भारत के न्यायालय, उद्योग-धंधे, स्वास्थ्य, शिक्षा और प्रशासनिक कार्यों में निर्णायक भूमिका में है और भारतीय समाज में वर्चस्व की एक विभाजक रेखा खींचती है। फलत: आम आदमी की जिंदगी में हिंदी की उपस्थिति होने पर भी उसे और उसकी सह-भाषाओं को बोलनेवाले क्षेत्रों में उच्चशिक्षा की स्थिति चिंताजनक होती जा रही है।

हिंदी माध्यम के छात्रों की शैक्षिक उपलब्धि में गिरावट बड़ी स्पष्ट है। हिंदी में स्तरीय अध्ययन-अध्यापन की सामग्री की कमी और अप्रामाणिक निम्नस्तरीय सामग्री ने छात्रों की मुश्किल और बढ़ा दी है। वे पुराने पड़ चुके ज्ञान, अधकचरी जानकारी, कौशलहीनता और सीमित क्षमता के कारण बेरोजगार हो रहे हैं। बौद्धिक-शैक्षिक जगत में हिंदी की व्यावहारिक स्थिति को सुधारने के कई प्रयास हुए हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी विभागों को खोलने के साथ कई गैर सरकारी संगठन, केंद्र और राज्य के अभिकरण वर्षों से कार्यरत हैं।

हिंदी के अध्ययन-अध्यापन में एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिए हिंदी को सशक्त बनाने के लिए गंभीर प्रयास आवश्यक है। ऐसा करना सामान्य जन के सशक्तीकरण और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उसकी सक्रिय सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिए जरूरी है। प्रजातंत्र में भागीदारी और सुशासन को सुलभ कराने के लिए सरल और ग्राह्य हिंदी का प्रसार आवश्यक है।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा की स्थापना इस कड़ी में महत्वपूर्ण है जिसे हिंदी भाषा, साहित्य और विमर्श की विविध प्रकार की बौद्धिक पहलों के द्वारा अंतरराष्ट्रीय फलक पर प्रतिष्ठा दिलाने के लिए स्थापित किया गया। यहां पर हिंदी साहित्य और भाषा तथा मानविकी और सामाजिक विज्ञानों, शिक्षा और प्रबंध अध्ययन आदि विविध विषयों में अध्यापन और शोध, हिंदी वर्तनी परीक्षक 'सक्षम' और हिंदी व्याकरण परीक्षक 'आचार्य' का निर्माण, 'वर्धा हिंदी शब्दकोश' तथा 'समाजविज्ञान विश्वकोश' का निर्माण, 'हिंदी समय डॉट कॉम' (साप्ताहिक ऑनलाइन हिंदी पत्रिका, हिंदी की सर्जनात्मकता का एक ई बैंक) 'बहुवचन', 'पुस्तक-वार्ता' तथा 'हिंदी: लैंग्वेज, डिस्कोर्स एंड रायटिंग' का प्रकाशन, विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण की व्यवस्था, हिंदी साहित्य के मौखिक इतिहास का प्रकाशन, हिंदी रचनात्मकता पर केंद्रित संग्रहालय आदि प्रयास हो रहे हैं।

हिंदी स्वयं में एक अध्ययन क्षेत्र है जिसकी भाषिक विशेषताएं, समृद्ध साहित्यिक परंपरा और दैनंदिन कार्यों में अनुप्रयोग कई महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े करते हैं। साथ ही मानविकी के विषयों, सामाजिक विज्ञानों और प्राकृतिक विज्ञानों की प्रामाणिक अध्ययन सामग्री का विकास आवश्यक है जिसमें कार्य अपेक्षित है। हिंदी की प्रगति हेतु भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद, हिंदी सीखने-सिखाने के लिए प्रभावी शिक्षण शास्त्र का विकास, हिंदी माध्यम से विभिन्न विषयों के लिए सामग्री का निर्माण, मशीन अनुवाद में शोध, हिंदी में मानक शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन, विदेशी छात्रों के लिए हिंदी शिक्षण, हिंदी कोश तथा हिंदी व्याकरण का निर्माण, हिंदी से जुड़े सॉफ्टवेयर का विकास, हिंदी की विभिन्न बोलियों/सहभाषाओं (जैसे ब्रज, अवधी, बुंदेली, कुमायूंनी, भोजपुरी) में शोध तथा प्रवासी भारतीयों की भाषा और संस्कृति का अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की विरासत और देशज ज्ञान को अंकित करने और संजोने का कार्य हिंदी भाषा पिछली सदी से करती आ रही है। हिंदी के साहित्यिक अवदान को स्मरण किए बिना भारतीय संस्कृति को समझना असंभव है। पर आज के जटिल परिप्रेक्ष्य में हिंदी का भविष्य इस पर निर्भर करता है कि वह सभी भारतीय भाषाओं की प्रतिनिधि बन सके, वह हमारे कामकाज और विचार में स्थान पाए। हिंदी समग्र देश को, उसके विभिन्न क्षेत्रों, उनके साहित्य, संस्कार और जीवन के बोध को, अभिव्यक्ति और संवाद को आकार देनेवाली भाषा बने। वह हमारे समाज की पहचान और गौरव की वाहिका बने तभी वह संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषा और विश्वभाषा का दर्जा पा सकेगी। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 14

समीक्षा

आधुनिकता में योजक-चिन्ह

■ **वागीश शुक्ल**
वरिष्ठ आलोचक
एवं भाषाविद

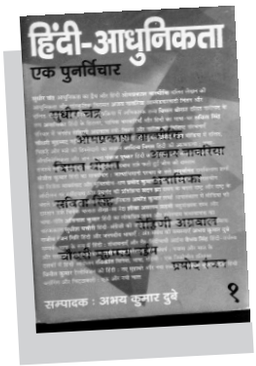

पुस्तक : हिंदी-आधुनिकता एक पुनर्विचार
संपादक : अभय कुमार दुबे
प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002 एवं इंडियन इंस्ट्यूट आफ एडवांस स्टडी, शिमला
प्रकाशन वर्ष : 2014
मूल्य : ₹ 2000

पुस्तक : अजाने मेलों में
लेखक : प्रमोद सिंह
प्रकाशक : हिंदी युग्म, दिल्ली
प्रकाशन वर्ष : 2014

(0)

ड्यूड, एटीच्यूड मत दीजिए। प्लीज। क्योंकि वह मेरे पास भी है। पर्याप्त मात्रा में है।

आप मुझ पर चढ़ जाएंगे और एटीच्यूड देंगे (और हम ले लूंगा?) तो इसकी गलतफहमी में मत रहिए। किसी की गलतफहमी में मत रहिए।

फिर चाहता क्या हूं? आपसे?

भोजपुरी में आधुनिक बोध का आनंद लीजिए-

चलिए!
केकरा खातिर पामुक के पन्ना घोंटनी
बोदलेयर के पाठ कईनी

'लागा चुनरी में दाग' से दूर रहिके
चुनरी में दाग लगवनी
तोहरा खातिर है बालम तोहरा खातिर

भोजपुरी में आधुनिक 1

(1)

समीक्षार्थ पुस्तक एक संगोष्ठी की रिपोर्ट है जो 23 सितम्बर 2009 से 29 सितम्बर 2009 तक शिमला में चली। उसमें हुए संवाद का स्वरूप इस प्रतिलेखन में न्यूनतम आवश्यक संपादन के साथ सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है। बीज-वक्तव्य के बाद कुल 26 प्रस्तुतियां उन पर हुई बहसों के साथ इसमें संकलित हैं और सविता सिंह तथा सदन झा के अतिरिक्त किसी प्रतिभागी ने कोई प्रश्न-लेख नहीं जोड़ा है। आप अपने को संगोष्ठी का श्रोता मान कर इस पुस्तक को बखूबी पढ़ सकते हैं। यथावत् प्रकाशन के इस आग्रह का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हम प्रतिभागियों को उनके वक्तव्यों के छपे स्वरूप के प्रति उत्तरदायी मानें और यह स्वीकार करें कि उन्होंने कोई असावधान शब्दप्रयोग नहीं किया है।

उद्घाटन-सत्र में कुछ सचेष्ट भाव से उर्दू के शब्द सभी वक्ताओं ने इस्तेमाल किए। किंतु वे ठीक तरह से छापे नहीं गए और मुझे संदेह यह है कि दो-एक को छोड़कर अन्य सभी ने शायद ठीक तरह से बोले भी नहीं।

यह 'ठीक तरह से बोलना' हिंदी की 'आधुनिकता' के लिए प्रासंगिक है। इसका अर्थ यह है कि यदि 'जिस तरह में बोलता हूं उस तरह तू लिख' का ही सिद्धात मुद्रण में अपनाया गया है तो लगता है यह स्वीकार नहीं किया गया कि 'मुकम्मल' को 'मुक़म्मल' और 'खुशक़िस्मत' को 'खुशकिस्मत' (पृष्ठ-7) बोलने से आप अपना उर्दू-प्रेम नहीं साबित कर पाएंगे। 'प्राचीनता के प्रति अ-प्रेम' का यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि आप 'शुद्धतावादी हिंदी'से अलग कुछ कह रहे हैं।

डर यहां यह है कि कहीं 'आधुनिकता-प्रेम' भी इसी तरह न हो, जिस तरह 'गुलिस्तां' में बिंदी का आवाहन कर के 'गुलिस्तां' लिखते हुए उर्दू-प्रेम का प्रमाणन हुआ है उसी तरह 'हिंदी' और 'आधुनिकता' के बीच योजक-चिन्ह जोड़ कर आधुनिकता का आवाहन न कर लिया गया हो। जब प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया हो कि इस योजक चिन्ह का तात्पर्य 'की' है, बात 'हिंदी की आधुनिकता' पर होनी चाहिए क्योंकि 'हिंदी का जन्म ही आधुनिकता के गर्भ से हुआ है' और 'हिंदी को उन भाषाओं के मुकाबले में विशेष सुविधा है जिनके ऊपर आधुनिकता के पहले का बोझ है' तो साफ है कि चर्चा के अखाड़े के लिए कुछ देश-काल और विषयवस्तु की सीमारेखाएं खींची गईं थीं जिनका गोष्ठी के दौरान कोई सम्मान किया गया हो, ऐसा इस प्रकाशित विवरण से नहीं लगता।

जो भी हो, ऊपर उधृत बीज-वाक्य के दो दिलचस्प परिणाम सामने आए हैं। पहला यह है कि संयोग और सौभाग्य से गोष्ठी में उपस्थित (अमेरिका में कार्यरत उर्दू के विद्वान) चौधरी मुहम्मद नईम ने इसके आधार पर यह कहा कि 'यही वह क्षण है जब भारतीयता का भी जन्म होता है' और 'उर्दू को आसान ज़बान बनाने का, इस तरह कि वह मुसलिम-पन से भी लिंक हो जाए' भी यही क्षण था। थोड़ा खोल कर यह कि 'आधुनिकता के पहले का बोझ' उर्दू पर था जिसे कम करने की कोशिश हुई और 'भारतीयता' इस 'आधुनिकता के पहले का बोझ' से बेखबर एक नया

विचार था जिसका 'जन्म' हो रहा था- अनकहा जो रह गया वह यह कि हिंदी का भी 'जन्म' इसी 'भारतीयता' की जुड़वां काया के रूप में हो रहा था। सार-संक्षेप यह कि वंशवृक्ष सुधार लें, हिंदी उर्दू की बड़ी बहन नहीं, उर्दू की बिटिया है। फिर दूसरा परिणाम यह है कि सुधीर चंद्र ने इस बीज-वाक्य का यह अर्थ लगाया कि उन्नीसवीं सदी को छोड़ने की बात की जा रही है- अनकहा यह कि 'आधुनिकता' के पहले का बोझ' उतार फेंकने की यही सदी थी और 'भारतीयता' तथा हिंदी की जुड़वां काया का निर्माण इसी सदी में हुआ। इस साझा शिलान्यास ने हिंदी की जड़ फोर्ट विलियम तक खोद डाली जिसके बाद यह संगोष्ठी चिरपरिचित 'जिसको जो आता है वह वही बोल दे' के अंदाज़ में कहीं से ईंटें और कहीं से रोड़े जुटाने लगती है।

'यों तो मैं कुछ तैयार हो कर नहीं आया फिर भी' का पार्श्वसंगीत बजाते हुए 'हिंदी की आधुनिकता' का जो प्रत्यय चर्चा के लिए सामने प्रस्तुत होता है उसकी झलक पीटर रोनॅल्ड डिसूजा के इस प्राक्कथन में मिलती है:-'अभी एक दिन मैंने किसी को भोजपुरी में कहते सुना कि वे 'मॉर्निंग वाक' पर जा रहे हैं। इसलिए हिंदी की आधुनिकता से सरोकार रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को अब इस आधुनिकता का निर्माण करनेवाले सारे तत्त्वों, उनके औचित्य और असर के बारे में सोचना होगा। यह किताब ठीक यही काम करती है और यही इसका विलक्षण योगदान है।

भोजपुरी में अंगरेजी शब्द घोलने को आधुनिकता बताने के इस नुस्खे में जो असली बात है वह यह मान्यता है कि आधुनिकता का मतलब अंगरेजी होता है, उसका किसी विचार या आचार से कोई संबंध नहीं है। हाज़िरजवाबी और हाज़िरसवाली के भरोसे किसी भी गोष्ठी में कूद पड़ने को हमारे बौद्धिक कितने तत्पर हैं यह फिर पीटर साहब के द्वारा (गोष्ठी के) अंत में दिए गए अंग्रेजी वक्तव्य से भी प्रकट है जिसमें गोष्ठीस्थल की इमारत की तारीफ़ के बाद पूछा गया है कि 'राष्ट्रभाषा के लिए हम क्या कर रहे हैं?', 'क्या हिंदी छोटानागपुरी की भाषा के बारे में सोचती है?', 'आदिवासी की भाषा को हिंदी क्यों कहें?'। ये सवाल अंत में पूछे गए किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि ये शुरू से मौजूद नहीं थे। हिंदी पर जब भी बात होती है, 'बता रे हिंदीवाले' की टेक के बिना नहीं होती।

अभी एक दिन मैंने किसी को भोजपुरी में कहते सुना कि वे 'मॉर्निंग वाक' पर जा रहे हैं। इसलिए हिंदी की आधुनिकता से सरोकार रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को अब इस आधुनिकता का निर्माण करनेवाले सारे तत्त्वों, उनके औचित्य और असर के बारे में सोचना होगा।

प्रारंभ दलित-विमर्श और फिर तत्काल बाद स्त्री-विमर्श से हुआ। यह इस अर्थ में आधुनिक है कि कुछ पहले इन पर अलग से बात नहीं होती थी। किंतु इन दोनों विमर्शों में वे ही रस्मी बातें हैं जो इन विमर्शों में सर्वदा कही जाती हैं जिसके नाते ये सभी विमर्श भाषा के बहते नीर में ठहरे हुए पानी वाले कूप-जल की हैसियत पा चुके हैं। इस ठहराव का कारण भी एक उदाहरण से कुछ स्पष्ट होता है। इस गोष्ठी में नईम साहब का परचा है उर्दू में 'रेखती' साहित्य पर जो तथाकथित 'औरतों की जबान' में लिखा जानेवाला साहित्य है। इस पर हुई बहस में यह उभर कर आया कि औरतें मुहावरे अधिक इस्तेमाल करती हैं और फिर बात यहां पर पहुंची कि आधुनिकता की एक निशानी यह है कि भाषा में मुहावरे कम होते जाते हैं। उदाहरण के रूप में यह मिला (पृष्ठ - 226-227) कि 'गांव में, बाग़ में, खटिया के सिरहाने खड़े' सुना गया था कि एक ने कहा, 'अम्मा ने खसम कर लिया, बड़ा अच्छा किया', तब दूसरे ने कहा, 'कर के छोड़ दिया, बड़ा बुरा किया'। इस पर एक प्रतिभागी ने संशोधन किया कि मुहावरा तो यह है: 'अम्मा ने खसम किया बुरा किया, खसम करके छोड़ दिया, और बुरा किया' ('किया' की जगह 'हुआ' छपा है) तो इसके प्रतिवाद में पहले प्रतिभागी यह नहीं कहते कि 'मैं भूल गया था', या 'मुझसे गलती हुई' अपितु यह कहते हैं कि 'मैंने जो सुना वह अच्छे के रूप में सुना' और बोलना चालू रखते हैं कि 'इससे कितनी बाइनरीज़' उभरती हैं।

कोई गर्दन नहीं पकड़ता कि आप आगे मत बढ़िए, पहले मुहावरा दुरूस्त करिए, यह मान लिया गया कि 'नेटिव इन्फार्मेन्ट' ने आंकड़ा 'वेरीफाई' कर दिया। कैसे माना जाए कि 'खसम कर लिया' का अर्थ ' विवाहिता स्त्री द्वारा स्वेच्छा से दूसरे पति का वरण' किसी प्रतिभागी को मालूम है और वह इससे उभरते 'स्त्री-विमर्श' पर बात करने में सक्षम है? यह तब, जब प्रतिभागियों में अधिकतर का बचपन 'गांव में, बाग़ में, खटिया के रिरहाने खड़े' ही बीता है। विस्मृत से भरपूर इस रिक्तता को उस 'ऊंची छतवाले' सेमिनार-रूम में भांय-भांय करते हुए साफ़ सुना जा सकता है जिससे इतनी आशाएं प्रस्तावना में वयक्त की गई हैं।

एकाध उदाहरण और। शीबा असलम फ़हमी हिन्दी की सम्मानित लेखिका हैं, उनका परचा है 'बहुसंख्यक दंभ और भाषा-नीति'। उसमें पृष्ठ- 523 पर उनका कहना है:- ग़ालिब जब यह कहते हैं 'जला है जिस्म जहां दिल भी जल गया होगा; कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू क्या है'। ग़ालिब मित्र संस्कृति के हैं पर वे जिस रूपक को यहां लाते हैं वह भारतीय है। जब आप बहुसंख्यक माहौल में रहते हैं तो यह सब अपने-आप से ही आ जाता है।.....बहुसंख्यक माहौल ? फांसी पर लटकाने के बाद मंसूर की लाश इसलिए टुकड़े करके जलाई गई कि वह बहुसंख्यक माहौल में रहता था? ये जितने परवाने शमा की लौ में

जान देते हुए फारसी-उर्दू कविता में मौजूद हैं, सब बहुसंख्यक माहौल में रहते हैं? और परवीन शाकिर किस 'बहुसंख्यक माहौल' में रहते हुए शेर लिखती है, 'ये हवा कैसे उड़ा ले गयी आंचल मेरा; यूं सताने की तो आदत मेरे घनश्याम की थी'; वह तो पाकिस्तान में पैदा हुई थी क्योंकि उसके पिता अपने परिवार को 'बहुसंख्यक माहौल' से बचाने के लिए पाकिस्तान बनते ही कराची चले गए थे ?

वैसे, शीबा जी अच्छी संगत में हैं, हिंदी के एक बहुत बड़े प्रगतिशील आलोचक भी ग़ालिब पर टी.वी. में बोलते हुए इस शेर का वही अर्थ बता रहे थे जो शीबा जी बता रही हैं। लेकिन बात यहीं तक नहीं है कि शीबा जी को ग़ालिब का शेर नहीं समझ में आया, बात आगे तक भी है कि किसी ने भी, नईम साहब तक ने भी, इसका विरोध क्यों नहीं किया, किसी ने यह क्यों नहीं कहा कि ग़ालिब के शेर का अर्थ यह नहीं है और वह अनर्थ पेश करने से आपका कथ्य-अगर वही सही है तब भी कमजोर पड़ता है।

छोटी-मोटी भूल तो बहुत है शीबा जी ने बहस कर समापन करते हुए कहा कि एक हिंदू महिला उर्दू की लेखिका नहीं है। पुरानों की बात छोड़िये, क्या इंदिरा वर्मा या सीमा गुप्ता इतनी प्रसिद्ध हैं कि उनका नाम ही उर्दू से गायब हो जाएगा। इस तरह के वाक्य का मतलब ही आख़िर क्या है? पृष्ठ- 560 पर बताया जाता है कि इब्ने सफ़ी के जासूसी उपन्यास में उर्दू का कर्नल फ़रीदी हिंदी में छपते ही कर्नल विनोद हो जाता था किंतु यह नहीं बताया जाता कि हमीद और क़ासिम जैसे पात्र भी हिंदीवाले इब्ने सफ़ी में होते थे। ऐसी सूचना केवल यह बताने के लिए दी जाती है कि कहने को कुछ भी कहा जाए, हिंदी हिंदू मानी जाती है, और उर्दू मुस्लिम।

किंतु अगर यही जेरेबहस था तो यह भी बताना चाहिए कि जब लता मंगेशकर से फिल्म-उद्योग में प्रवेश करने के पहले यह पूछा जाता है कि उन्हें उर्दू आती है या नहीं तो यूसुफ़ खान का नाम दिलीप कुमार क्यों रखा जाता है? और कौन सा कारण है कि भारत में बनी फ़िल्म हिन्दी की मानी जाती है पाकिस्तान में बनी फिल्म उर्दू की ? ये सब आंकड़े किताब में मौजूद हैं, इन पर बात नहीं हुई क्योंकि इन सवालों के आगे 'बता रे हिंदीवाले' नहीं जोड़ा जा सकता था- 'मुग़लेआजम' की भाषा को हिंदी बताने का आग्रह 'हिंदीवालों' का नहीं था। रविकांत ने बड़ी मिहनत से एक परचा पढ़ा, उसमें अश्क का एक उद्धरण है जिसके अनुसार फिल्मों में उर्दूवाले इसलिए टिक गए कि वे पी कर वाही-तबाही बकते थे जबकि हिंदीवाले ऐसा नहीं कर सकते थे और इसलिए फ़िल्मों में नहीं टिक पाये। गोष्ठी में इस पर किसी ने नहीं कहा कि हिंदी वाले भी पी कर वाही-तबाही बकने में किसी से पीछे नहीं हैं।

वैचारिक स्तर पर हिंदी में सब के सब अपनी जानकारी भर मार्क्सिस्ट होते हैं सो इस परिचर्चा में भी तूती और नक़्क़ारा एक ही सुर में मार्क्सवाद की गुहार लगाते हैं भले ही आदित्य निगम अभय दुबे को हड़काते नज़र आएं। ब्लॉगिंग पर चर्चा होती है तो इस पर चिंता व्यक्त की जाती है कि हिंदी ब्लॉगर राजनीति नहीं करता कविता करता है जबकि हिंदी में कविता शायद ही कोई करता है सब जांगर-भर राजनीति ही करते हैं। आपात-काल में मीडिया की भूमिका पर अमरेन्द्र शर्मा का परचा है जिसमें हमें यह नहीं बताया जाता कि कौन से मार्क्सिस्ट थे जो आपातकाल का समर्थन कर रहे थे जैसे यह भारतीय मार्क्सवाद का हिस्सा ही नहीं है और 'पहल' पत्रिका का ज़िक्र ऐसे आता है जैसे आपातकाल में उसने कोई प्रतिरोधी भूमिका निभाई थी जिसका उसे बाद में नुकसान हुआ (किंतु जब स्वयं 'पहल' पत्रिका ही यह दावा आज इंटरनेट पर कर रही हो तो बिचारे अमरेन्द्र शर्मा का क्या दोष)। 'गैर-सेक्युलरता' के पापी क्या करते हैं? वे रानी लक्ष्मीबाई पर पाठ हटाकर अरूणा आसफ़ अली पर पाठ लिखवाने का विरोध करते हैं। अभय दुबे बताते हैं कि 'न्यूजपेपर' को 'समाचार-पत्र' कहने पर उनके एक मित्र को ऐसे देखा जाता था जैसे वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्य हों (पृष्ठ- 537) और हम पाते हैं कि इसे अनुचित मानना तो दूर, तीन खंडों

की इस पुस्तक में सभी प्रतिभागी अपना बचाव ही करते दिखते हैं कि भैया में तो 'समाचार पत्र' नहीं 'अखबार' कहता हूं। ऊपर से तुर्रा यह कि 'स्तालिन मार्का मार्क्सवाद मैं जानता नहीं हूं कि क्या है?' (पृष्ठ- 411)। 'स्तालिन मार्का मार्क्सवाद' समझने के लिए संगोष्ठी के बाहर जाने की ज़रूरत ही नहीं है।

यह अकेली परिचर्चा नहीं है जिसमें हिंदी के रचनाकार स्वदेश के बारे में परदेसी नृतत्त्वशास्त्रियों की तरह बात करते पाए जाते हें। साहित्य-सर्जना से लेकर विचार-वर्णना तक सर्वत्र दिखता है। यों तो 'समस्या-आधारित' चिंतन की पहले से ही अपनी सीमाएं हैं किंतु हिंदी में यह बात अलग से है कि 'विमर्श' की ज़रूरत पड़ते ही समस्या का आविष्कार भी खुद ही कर लिया जाता है। पक्ष, प्रतिपक्ष, प्रमाण, न्यायाधीश, फांसीगर, चारागर, सबकुछ 'हिंदी वाला बौद्धिक' अकेला ही होता है (जैसे कि उनका आदर्श 'टीवी-वाला बौद्धिक' भी है ही)।

आप इसी संगोष्ठी में 'हिंदी में मार्क्सवाद' पर हुई बातचीत देखिए। कोई नहीं पूछता कि यह 'हिंदी का मार्क्सवाद' किस अर्थ में हिंदी का है। हिंदी में दलित है तो देर-आयद-दुरूस्त आयद दलित विमर्श भी होगा ही, हिंदी में स्त्री है तो देर-आयद-दुरूस्त-आयद दलित-विमर्श भी होगा ही, किंतु क्या उसी तरह हिंदी में मार्क्सवाद भी है कि वह चर्चा का विषय बने? हिंदी के बहुत सेलेखक मार्क्सवादी हैं, यह बात सच है किंतु हिंदी के अनेक लेखक मधुमेह के रोगी भी हैं। किस अर्थ में 'हिंदी में मार्क्सवाद' प्रासंगिक है और 'हिंदी में मधुमेह' प्रासंगिक नहीं है? लेकिन ज़ाहिर है कि 'हिंदी में मार्क्सवाद' प्रासंगिक है क्योंकि एक सर्वग्रासिता के सिद्धान्त के तहत साम्यवाद को 'सारी दुनिया में' फैलाने का फैसला था और 'सारी दुनिया में' हिंदीवाला भी आता है।

यों, सच पूछिए तो इस संगोष्ठी की सम्भावनाएं बहुत थीं। टेलीविज़न और चिट्ठाकारी की हिंदी पर शायद पहली, और मेरी जानकारी में अभी तक आखिरी, बार कोई परिचर्चा हुई; यह और बात है कि हमारे दुर्भाग्य से इसकी भी सुई वहीं टूटी जहाँ और हिंदी-विमर्शों की टूटती है, अर्थात मार्क्सवाद की घिरीं में।

(2)

इस गोष्ठी में उपस्थित कई लोग अंगरेजी में ही लिखते-बोलते रहे हैं और न केवल यह अच्छा है कि वे इस गोष्ठी में हिंदी में बोलें अपितु यह भी अच्छा है कि ऐसा भरम बनाने की जो कोशिश थी कि बंगाली विद्वान तो बंगाली में विमर्श कर लेता है, हिंदी विद्वान अंगरेजी से बाहर नहीं आ पाता, उसको तुरन्त ही दूर किया जा सका। पाया गया कि सब भारतीय विद्वान अंगरेजी में लिखते-सोचते हैं- जिस हद तक लिखना-सोचना सेमिनार में परचा पढ़ने और वार्षिक 'सेल्फ-असेसमेंट' में उसे दाखिल करने तक महदूद है, यह बात सच भी कही जा सकती है। यह बात यहां प्रासंगिक भी नहीं है यद्यपि 'मैं अपनी किताब लिखता रहा?' का सवाल उठाया गया है।

फिलहाल भाषा की दृष्टि से जो प्रासंगिक है वह है पृष्ठ- 147 पर का यह वाक्य 'ऑलरेडी उसके अंदर एक पोजीशन डिवेलप हो चुकी है कि जीवन में आधुनिकता के फुल रेप्लिकेशन की पॉसिबिलिटी बनती नहीं है।' जिस परचे से यह वाक्य यों ही उठा लिया गया है उस परचे की भाषा इस विमर्श में प्रयुक्त भाषा की प्रतिनिधि नहीं है किंतु इस सोच की परिचायक अवश्य है कि विमर्श अगर संभव है तो अंगरेजी में है। मैं दुहरा दूं कि मुद्दा यह नहीं है। किंतु भाषा का यह स्वरूप विचारणीय है। इस परचे के संदर्भ में तो नहीं-परचा मार्क्सवाद पर था सो 'तेरी मार्क्सवादी कमीज़ पुरानी पड़ चुकी है, मेरी नईवाली की सफेदी देख' किस्म की ही प्रतिक्रिया सामने आई- किंतु अन्यथा ही, एक बहस हुई जिसे चाहें तो हिंगलिश की बहस मानें और चाहें तो हिंदी भाषा के 'क्रियोलाइजेशन' की बहस मानें।

इस बहस के भीतर गोष्ठी में अनुपस्थित प्रभु जोशी की इस चिंता की चर्चा भी हुई कि हिंदी के '(डि) क्रियोलाइजेशन' की प्रक्रिया प्रारम्भ हो रही है और कुछ समय में उसे समाप्त कर के अंगरेजी आ जाएगी। इस बहस पर परछाईं तो कुछ कैरीबियन भाषाओं और अफ्रो-अमेरिकन भाषिक व्यवहार के संदर्भ में प्रारंभ की गई भाषाविज्ञान के भीतर की एक शास्त्रीय बहस की है किंतु उस बहस की चिंताओं से किसी परिचय का कोई प्रमाण इस बहस में दिखा नहीं। यहां उस शब्दावली की छांव में जाने की कोई प्रासंगिकता नहीं थी और अगर कुछ पांडित्य-प्रदर्शन का लक्ष्य था तो वह भी हो नहीं पाया।

बात कुल मिलाकर इतनी है कि कुछ लोगों की बोलचाल की हिंदी में अंगरेजी के बहुत सारे शब्द आ रहे हैं जिसका एक अतिवादी नमूना अभी ऊपर दिया गया। किंतु हिंदी में तो शुरू से ही 'मैं फ्राइडे / जुमे / शुक्रवार को चला' के आधार पर अनेक प्रकार की हिंदी का प्रमाण हर किताब में दिया जाता है। जब व्याकरण के स्तर पर कोई छेड़छाड़ नहीं हो पा रही है तब यह चिंता क्यों उभर आई?

अगर आप अगल-बगल झांकेंगे तो आपको 'कायस्थों की उर्दू' और '(कश्मीरी) पंडितों की उर्दू' पर अनेक कटाक्ष मिलेंगे- सारांश यह कि मुसलमान को छोड़कर किसी की क्या मजाल कि उर्दू लिखे-बोले। फिर अंगरेजों के जमाने में 'बाबू इंगलिश' पर बहुत तानाकशी होती थी जिसका भाव भी यही था कि अंगरेज को छोड़कर किसी की क्या मजाल कि अंगरेजी लिखे-बोले। बाद में ये कटाक्ष 'इंडियन इंगलिश' पर ढाल दिए गए जिसका एक अच्छा निर्देशन निसीम एजेकिएल की 'देशभक्त' शीर्षक से लिखी गई व्यंग्य-कविता है। तो जब अंगरेजी के लोग घुसपैठ को लेकर इतनी चिंता व्यक्त कर रहे हैं, 'हिंदीवाले' क्यों चुप बैठें? उन्होंने भी बात उठायी कि हिंदी को अंगरेजी से खतरा है और यह मानना पड़ेगा कि 'चटनीफाइंग इंगलिश' की चर्चा के पहले उठायी। लेकिन हासिल क्या है? अगर 'टाइम्स नाउ' में अर्णव गोस्वामी हिंदी बोलने पर विवश हो जाते हैं तो हिंदी का वह विलोप कहां है जिसके विलाप का दुहत्थड़ इस बहस में धमक रहा

है?

हिंदी और अंगरेजी के सम्बन्ध यदि शत्रुतापूर्ण माने जाएंगे तो निश्चय ही चूंकि अंगरेजी का बल अधिक है, उसी की विजय की भविष्यवाणी हमें करनी होगी। वैसे भाषाओं और संस्कृतियों का जन्म-मृत्यु-चक्र बहुत आसानी से व्याख्येय नहीं है। साधारणतया राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक विजय से ही सांस्कृतिक और भाषिक विजयें भी हासिल की जाती है किंतु इस पर भी गौर कीजिए कि 1644 में मिंग साम्राज्य के अंतिम बादशाह ने पराजित हो कर फांसी लगा ली और चीन में मन्चुओं का किंग साम्राज्य स्थापित हो गया किंतु मन्चुओं ने चीनी भाषा सीखी और अपनी भाषा भुला दी जबकि उसको जीवित रखने के राजकीय प्रयासों की कमी कभी नहीं रही। तुर्कों और मुगलों ने भी अपने राजनीतिक उपनिवेशों में अपनी भाषा तुर्की न रख कर फारसी ही रखी।

फिलहाल भारत में राजनीतिक, सैनिक या आर्थिक दासता की स्थितियां भी नहीं हैं- जो हैं उसे असमान समीकरणों का समूह माना जा सकता है। जब यह दावा किया जाता है कि दुनिया में पचास करोड़ हिंदी-भाषी मौजूद हैं तो यह मानना पड़ेगा कि वे अलग-अलग तरह की हिंदी बोलते होंगे और उनमें कुछ पिछली पढ़ी अंगरेज़ी किताब के जुमले उछालने वाले भी होंगे। बहस के आंकड़े भी कमजोर हैं: जो बच्चा 'तैंतीस' नहीं पहचान रहा है और 'थर्टी थ्री' पहचान रहा है वह इसी कारण से ऐसा कर रहा है कि वह उस स्कूल में नहीं जा रहा है जहां 'तीन दहाई तीन इकाई तीस तीन तैंतीस' की आवाज गूंजती है। अगर हमने इस स्कूल को सुनसान होने दिया है तो इससे हिंदी या अंगरेजी का क्या संबंध है? मुझे मालूम कि एक रुपये में कितनी दमड़ियां होती हैं किंतु मैं इस आधार पर अपनी हिंदी को कमजोर मानने के लिए तैयार नहीं हूँ।

जब इस तरह की बहस होती है तो फिर यह भी सामने आएगा ही कि जब गायत्री स्पिवाक ने महाश्वेता देवी की रचना पर परचा पढ़ा तो महाश्वेता जी ने कहा कि 'मैं तो कुछ समझ ही नहीं पाई कि क्या कहा गया'; फलत: ? (अनकहा) फलत: यह कि गायत्री स्पिवाक की तरह का विमर्श हिंदी में नहीं चलेगा। यह तब जब कि भारतीय मार्क्सवाद की झोली में महाश्वेता जी और गायत्री स्पिवाक का सह-अस्तित्व बरकरार है।

(3)

एहतराम इस्लाम का एक शेर है:

'इस बात पे निर्भर है हिंदी की प्रगति-उन्नति
हिंदी के पुजारी के चिंतन की दशा क्या है।।'

इस 'चितन की दशा' का कुछ अनुमान इस गोष्ठी से लग सकता है जिसमें यह बताना भी जरूरी माना गया कि प्रतिभागियों में कौन किसका रिश्तेदार है और यह भी चिंता का विषय बना कि राजकमल चौधरी के मन में अज्ञेय जी के प्रति सम्मान क्यों था। इन सब बातों में लोगों की दिलचस्पी ही नहीं है यह तो मैं नहीं कहूंगा किंतु अच्छा यही होता कि ऐसी चीज़ें प्रकाशन में न आतीं। तमाम फतवे ऐसे हैं जिन्हें बिना किसी चुनौती के आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए था: मसलन् यह कि 'भोजपुरी में पेटी बूजूर्वा क्लास है किंतु आदिवासी के पास नहीं है'। ये कौन लोग हैं जिनका समाजशास्त्र उन्नीसवीं सदी की यूरोपीय शब्दावली के भीतर ही सिकुड़ा-सहमा रहने को विवश है और इनका इतना रूआब कैसे है कि इनकी बात को चुनौती नहीं दी जाती?

इसका यह अर्थ नहीं है कि गोष्ठी में पढ़े गए परचों में कोई मेहनत ही नहीं की गई थी। जैसी ओर गोष्ठियां होती हैं उनको देखते हुए इस गोष्ठी का स्तर अच्छा ही कहा जाएगा। समस्या यह है कि 'प्रगति' और 'उन्नति' के मुहावरों से बाहर न निकल पानेवाले 'हिंदी के पुजारी' का 'चिंतन' बहुत कुछ अपने अतीत से अपरिचय बढ़ाने और अपने वर्तमान से अनजान बने रहने से अनुप्राणित होता रहा। इसने कुछ ऐसा समझा कि राजनीति, जिससे इसका तात्पर्य कुछ अखबारी मुहावरों के इस्तेमाल तक सीमित रहा है, इसको कहीं 'आगे बढ़ा ले जाएगी'। परिणामत: इसमें जो भी आधुनिकता आई, वह क्यों और कैसे आई इस पर हिंदी में कोई विचार ही नहीं संभव हुआ।

मैं एक उदाहरण देता हैं। भारत में संस्कृत ही बौद्धिक विचारमंथन की भाषा रही है किंतु हिंदी के एकदम शुरुआती दिनों में, भारतेंदु जी के पहले ही, कई ग्रंथ हिंदी में लिखे जा रहे थे जिनमें भारतीय दर्शन की उच्चतम उपलब्धियों को सुबोध विधि से उपलब्ध कराया गया था - रामप्रसाद निरंजनी का 'योगवासिष्ठ' और निश्चलदास जी का विचार सागर इनमें प्रमुख हैं किंतु और भी ग्रंथ थे। इनमें से कई छपे भी जिनमें से दो एक अभी भी मिल जाते हैं। इनकी भाषा पुरानी पड़ गई है किंतु इनसे अपरिचय इस नाते नहीं है, वह इस नाते है कि हिंदी के उस पाठक की इस विषय में कोई रुचि ही नहीं है जिसने हिंदी का जिम्मा उठा रखा है। यही वर्ग है जो गोविंदचंद्र पांडेय के ग्रंथों की भाषा को हिंदी न कह कर 'गोविंदचंद्र पांडेय की भाषा' कहता है, जो कोश निर्माण की आवश्यकता और प्रक्रिया से नितांत अपरिचित होत हुए भी डॉ. रघुवीर के कोश पर ऐसे हंसता है जैसे वह किसी महान अज्ञानी का बचकाना प्रयास है। यही वर्ग है जिसके नाते हिंदी ग्रन्थ अकादमियों द्वारा प्रकाशित बेहद अच्छी किताबें गोदामों में सड़ रहीं हैं और जिसके नाते हिंदी के कवि सम्मेलन समाप्त हो गए।

इस गोष्ठी में जो हुआ सबके सामने आ चुका है। मेरा आग्रह यही है कि 2017 में इस गोष्ठी को हुए दस बरस हो जाएंगे। यह अच्छा होगा कि इसी विषय पर फिर से एक बार लोग जुटें और इन्हीं विषयों पर फिर बात करें। दस बरस में हिंदी की 'आधुनिकता' में भी बदलाव आने चाहिए और उसके 'आधुनिक' विचारकों में भी। जब तक ऐसा कोई नियतकालीन आयोजन नहीं होता, 'आधुनिकता' के प्रत्यय में उस विशिष्टता की तराश का उभार भी नहीं सामने आएगा जो भारतीय संदर्भ में सामान्यत: और हिंदी के संदर्भ में विशेषत:, ऐसे प्रयासों को सार्थक बना सके। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 19

विवेचन

जनपदीय भाषाओं का हिंदी से अंतर्संबंध और अंतर्विरोध

■ **अरुणेश नीरन**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001

सत्ता के लिए हिंदी बाधक है क्योंकि यह जनभाषा है और सत्ताएं हमेशा जनभाषाओं के विरोध में रही हैं। राजनीति ने उसे राष्ट्रभाषा का नाम दिया फिर राजभाषा, फिर संपर्क भाषा, फिर ऑफिसियल लैंग्वेज। देखते-देखते हिंदी का सगुण साकार रूप निर्गुण निराकार होता जा रहा है।

जनपदीय भाषाओं को 'बोली' और हिंदी को 'भाषा' कहा जाता है। इन पर विचार करने से पहले दोनों की व्युत्पत्ति पर विचार होना चाहिए। देखा जाए तो दोनों की व्युत्पत्ति में कोई विशेष अंतर नहीं है। 'भाषा' संस्कृत के 'भाषा' धातु से बना तत्सम शब्द है। 'बोली' प्राकृत के 'बोल्लई' से बनी है। दोनों का अर्थ है बोलना। बोली का संस्कृत रूप नहीं मिलता। प्राकृत का बोल्लई ठेठ लोक व्यवहार का शब्द है। संस्कृत के 'वदति' से प्राकृत 'बोल्लई' की भाषावैज्ञानिक यात्रा थोड़ी कठिन मालूम होती है। अगर यह मान भी लिया जाए कि 'वदति' से 'बोल्लइ' और उससे बोली बनी तब भी इतना अंतर जरूर है कि 'भाषा' तत्सम है। और बोली तद्भव। दोनों का अर्थ भले ही एक हो लेकिन मूल भिन्न होने से बोली से बोलने का जहां सामान्य अर्थ निकलता है, वहीं भाषा में संस्कृत के स्वाभाविक अभिजात का पुट मिलता है। बोली में वाचिक क्रिया के शारीरिक प्रयत्न का मान है जबकि भाषा में मानसिकता का विशेष योग है। इससे स्पष्ट है कि बोली वाचिक और सामान्य व्यवहार के लिए है। और भाषा प्राय: लिखित और औपचारिक प्रयोग के लिए। सभा में विद्वानों का भाषण होता है और घर में सभी बोलते हैं। भाषा में चिंतनशील लोगों, जो अत्यल्प हैं, की महान परंपरा है और बोली में विशाल संख्या वाले अचिंतनशील लोगों की छोटी-सी परंपरा।

यही छोटी सी परंपरा लोक परंपरा होती है। इसी लिए संत हमेशा बोली में गाते रहे हैं। और उनके गाते रहने से भाषाओं और बोलियों ने अपनी सरहदें तोड़ दी हैं। जनपदों, भाषा-क्षेत्रों को तोड़ती हुई उनकी बानी सारे देश में पहुंच गई है। कबीर, सूर, मीरा, तुलसी, रैदास, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता, ननका प्रसाद को बंगाल में बाउल गाते हैं तो पंजाब में रागी तो दक्षिण के कथा-काल क्षेपण में उन्हें समवेत स्वर में पूरा समाज गाता हैं। ये किस बोली के कवि हैं? इनका भाषा क्षेत्र क्या है? भाषा में दार्शनिक बोलता है। बोली में संत भक्ति है। दार्शनिक से संत महान होता है। क्योंकि तर्क के प्रभाव से दर्शन ऊपर की ओर बढ़ता है जबकि संतों की बानी लहर की तरह फैलकर ढाई आखर वाले प्रेम को अपनी अंकवार में भर लेती है। इसी लिए सारे दार्शनिक नगरों में हुए और सारे संत गांवों में, वनों में।

भाषा में साहित्य रचा जाता है, बोली में लोक साहित्य। लोक साहित्य लोक समाज की सृष्टि है। लोगों की जुबान से रचा गया, लोगों की जुबान से प्रचारित। इस साहित्य के नेपथ्य में होता है संघबद्ध जनसमुदाय। संघबद्ध जनसमुदाय, के सुख दु:ख, आशा-आकांक्षा, चिंता और विचारों का प्रतिफलन है यह साहित्य। विशुद्ध आनंद के लिए इसकी रचना नहीं होती। जरूरत के मुताबिक यह लोक समाज को शिक्षा भी देता है। कभी-कभी भाषा और बोली में फर्क करना मुश्किल हो जाता है क्योंकि किसी भी जीवित भाषा के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि यह भाषा है या बोली। बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, असमिया, काश्मीरी, डोंगरी, भाषा भी हैं और बोली भी, क्योंकि इनका लिखित व्यवहार होता है और ये बोली भी जाती हैं। इनमें श्रेष्ठ और महान साहित्य है तो दु:ख के उद्वेग और सुख के संवेग से भरा हुआ लोक साहित्य भी।

जनपदीय या लोकभाषा की सबसे बड़ी शक्ति है प्रतिरोध। प्रतिरोध उस समाज से, जिसने जीने की स्थितियां छीन ली हैं, सत्ता से, जिसने लगातार शोषण किया है, ईश्वर से, जिसने हमारी रक्षा नहीं की, बंगाल के माल्टा जिले से संग्रहीत एक 'गंभीरा' गीत में दुस्सह, दुर्बल, असहाय मनुष्य, अपने देवता भोलेनाथ के दरबार में प्रतिकार की आशा में गुहार लगाता है-

'हमारी क्या दशा कर दी
भोलेनाथ!
पेट में दाने नहीं

न तन पर कपड़े
दोनों बैलों को ले गया साहूकार
अब क्या करें हम ?
हाड़-मांस के हम बन गए हैं गुलगुली घास
लोग गुजर जाते हैं हमारे ऊपर से
क्या करें हम ?'

एक ओर भोलेनाथ हैं, वहीं दूसरी ओर अल्लाह भी है। भूख से पीड़ित असहाय लोग अल्लाह की शरण में जाते हैं-

'खोदता हूं मिट्टी
पर पेट नहीं भरता
दिन ढले लौटता हूं
झुकाए अपना सिर
आग जल रही है
पेट और चूल्हे में
पर हांड़ में है केवल पानी
बीवी बच्चों की आंखों में आंसू
मेरे भीतर भी खौल रहा है पानी
छोटा बेटा रोते हुए माँगता है भात!
अपना फैसला सुना दे अल्लाह !
खेत में फसल नहीं हुई इस बार
सूने हैं खेत
इस तरह
कितने दिन आंख से बहता रहेगा पानी!'

रिक्त, नि:स्व, वंचित मनुष्यों ने अपने अंतिम सहारे शिव और मेहरबान अल्लाह को याद किया है। लोक समाज के चारों ओर सुनवाई की जो आवाज नीरव सन्नाटे में अकेली रोती है, उसका अंतिम सहारा होती है वह भाषा, जिसमें वह रोता है या ईश्वर या अल्लाह- जो अस्तित्व को मिटाने पर तुला हुआ है। बोली, जलधार है पर्वत से गिरती हुई - जल प्रपात, जहां बूंद-बूंद नाच रही है। यही नाचती हुई बूंदें जब धारा बनकर बहती हैं, तब बहता हुआ नीर बनती है भाषा, भाषा में विषय होता है, बोली में विश्वास!

बहुत पहले से इस देश में दो तरह की भाषा का प्रयोग होता आ रहा है। लोक भाषा और अभिजात भाषा। बहुत बार लोकभाषा में बहुत अच्छा साहित्य लिखा गया। उसमें थोड़ा सा बचा, बाकी नष्ट हो गया। इसका कारण

हिंदी को एक ओर भोजपुरी, अवधी, बघेली, बुंदेली, ब्रज, कौरवी, गढ़वाली, कुमाऊंनी, हरियाणवी, पहाड़ी, राजस्थानी, मालवी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, मगही, और नगपुरिया बोलियों की उर्वर क्षमता को दुहने की अपेक्षा उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा को विकसित करने में अपनी भूमिका निभानी है। इन सबकी निधि हिंदी की निधि है। यह तभी उचित होगा जब हम इस निधि की दूसरी जन-भाषाओं के साथ साझेदारी की पहचान कराने का दायित्व संभालें।

यह था कि बोलियों की परंपरा वाचिक थी, भाषाओं की लिखित। बौद्धों और जैनों का विपुल साहित्य तत्कालीन लोक भाषा पालि में लिखा गया। फिर प्राकृत में, फिर अपभ्रंश में। मगर जब तक धार्मिक उपदेश, कुछ प्रेम, कुछ नीति की बात रही, तब तक काम चलता रहा। लेकिन जब दर्शन और सूक्ष्म चिंतन की बात आई तो संस्कृत में लिखा जाने लगा। कई बार दोहा लिखा गया अपभ्रंश में, मगर टीका लिखी गई संस्कृत में। जैसे कृष्णपाद के 'दोहाकोश' की 'मेखला टीका'। कवि अब्दुल रहमान का 'संदेश रासक' भारतीय साहित्य की एक धरोहर है। उसमें कवि ने कहा है-

'जिण मुक्खु न पंडिय मन्झियार।
तिण पुरुउ पढ़िब्बइ सब्बवार।।'

जो न मूर्ख होगा, न पंडित, उन्हीं लोगों के सामने यह बार-बार पढ़ा जाएगा। इसके बाद भी 'संदेश रासक' की तीन टीकाएं मिलती हैं। ऐसा क्यों हुआ? इसके दो कारण है। पहले तो जैसे ही आवेग तरल मनोभाव के क्षेत्र से उठकर विचार के बारीक क्षेत्र में हम पहुंचे, वैसे ही हमें अनुभव हो गया कि शुद्ध जनपदीय भाषा यह करने के लिए राजी नहीं होगी। इसके लिए कटी-छंटी, मानकीकृत, व्याकरण सम्मत कसावट वाली भाषा चाहिए। अर्थात संस्कारवती भाषा चाहिए। दूसरा कारण यह था कि बोली का क्षेत्र सीमित होता है। दूर-दूर तक विभिन्न भाषा बोलने वालों तक विचार पहुंचाने के लिए सार्वदेशिक भाषा का सहारा लेना पड़ेगा। इसीलिए लोकभाषा का साहित्य अपने क्षेत्र से बाहर पहुंचा तो उसका माध्यम भाषा बनी। इसीलिए लोकभाषा का साहित्य बहुत दिनों तक जीवित नहीं रहा। उसमें उतना ही बचा, जितने को किसी बड़े धार्मिक आंदोलन का सहारा मिला। दक्षिण के अलवार, कश्मीर की लल्ला, उत्तर के कबीर, रैदास, तुलसी, सूर, मीरा, सुंदरदास, सेन, रज्जब, जगजीवन साहब, धन्ना, महाराष्ट्र के नामदेव, एकनाथ, ज्ञानेश्वर, नरसी मेहता - पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण - पूरे भारत के भक्ति आंदोलन की यह विशेषता रही कि अलग-अलग क्षेत्र की बोलियों ने इसे गाया तो भारत की समस्त भाषाओं ने इनका अध्ययन किया।

आधुनिक हिंदी भी पहले लोकभाषा थी लेकिन जैसे-जैसे उसमें ज्ञान विज्ञान के उच्चतर सूक्ष्म विचार आने लगे वैसे-वैसे मूल गुणों का ह्रास हाने लगा। अब धीरे-धीरे उसे वही स्थान मिलने लगा जो पहले संस्कृत के पास था। जिसे विशाल हिंदी प्रदेश कहा जाता है उसमें बहुत सी बोलियां बोली जाती हैं - भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, मगही,

अंगिका, हरियाणवी, राजस्थानी आदि। इनमें कई में साहित्य सृजन की स्वतंत्र व लंबी परंपरा रही है विशेषकर ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, और राजस्थानी में महान साहित्य मिलता है। डिंगल के चंद्रवरदाई, मैथिली के विद्यापति, भोजपुरी के कबीर, अवधी के जायसी और तुलसी, ब्रजभाषा के सूर, मीरा, और रीतिकाल के सभी कवि हिंदी के कवि माने जाते हैं लेकिन इनके अध्ययन में कठिनाई यह है कि कामता प्रसाद गुरू के 'हिंदी व्याकरण' की कसौटी इनके लिए नहीं है। न रामचंद्र वर्मा के 'मानक हिंदी शब्दकोश' में इनके द्वारा व्यवहृत शब्द हैं। वह शब्दकोश खड़ीबोली के शब्दों का है। अन्य भाषा-भाषी हिंदी व्याकरण के आधार पर इनका अध्ययन नहीं कर सकते।

हिंदी को केवल पुराने, मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य के रूप में नहीं समझा जा सकता। उसे समझने के लिए देश की कौन भाषा कब केंद्राभिमुख और सबसे अधिक व्यापक प्रसारवाली भाषा कब-कब रही, किन भाषाओं की विरासत हिंदी को मिली, उस विरासत के रूप में कौन-कौन साहित्य हिंदी साहित्य में समाया हुआ है, यह समझना भी आवश्यक है। डॉ. धीरेंद्र वर्मा कहते थे कि भारत के मध्य प्रदेश (जिसे हिंदी भाषी क्षेत्रों का समुदाय कहा जाता है) की भाषा बराबर ऐसी रही जो दूसरी भाषाओं से संबंध स्थापित करती थी और परस्पर संयोजित करती थी। पहले संस्कृति ने यह भूमिका निभाई और शास्त्रीय ज्ञान के प्रसार के रूप में बराबर निभाती रही।

एक प्रकार से संस्कृत भारत की समस्त भाषाओं की सहवर्ती संस्कृति-भाषा है। उसके बाद पालि जो कोशल, मगध, कौशांबी, उज्जैनी में बोली जाने वाली जनपदीय भाषाओं के मानक के रूप में विकसित हुई, मध्यदेशीय भाषा होते हुए भी सार्वदेशिक भाषा हुई। थेरवाद बौद्ध संप्रदाय की वही पवित्र भाषा भारत के बाहर श्रीलंका, वर्मा, थाईलैंड और लाओस में इसी प्रकार आज भी प्रतिष्ठित है। इसके अनंतर प्राकृत न केवल साहित्य की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई बल्कि वह जैन संप्रदाय और शासन की भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठित हुई। इसके बाद नागर अपभ्रंश (जो मध्यदेशीय ही है) साहित्य की भाषा के रूप में सम्मानित हुआ। भारतीय रचनाकार छह-छह भाषाओं में निष्णात होते थे। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि केवल संस्कृत में दक्षता काम नहीं आएगी, प्राकृत और अपभ्रंश में भी रचना कौशल चाहिए। कालिदास, अश्वघोष से लेकर विद्यापति तक के रचना-संसार की समृद्धि एकभाषीय न होकर बहुभाषीय है।

हिंदी का उदयकाल इसी भाषिक उदारता और व्यापकता की आकांक्षा से हुआ। इसके भीतर उपनिषदों का ज्ञान, योग के रहस्य, कालिदास जैसे कवियों का उक्ति-सौष्ठव बराबर छन-छन कर आता रहा। प्रकृति और संस्कृति में संतुलन एक प्रकार से हिंदी का स्वभाव रहा है। यह सब छन कर आता रहा, साथ ही अपने समय की जनता की सीधी अटपटी बानी का रस भी उसमें आता रहा। आदान-प्रदान और भाषाओं से सामंजस्य हिंदी का दूसरा पर्याय बन गया। यह आदान-प्रदान सत्ता के भाव से नहीं, यह शुद्ध आत्मदान के भाव से आया। कुछ रजवाड़ों में हिंदी सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध से राजकाज की भाषा जरूर रही, पर इससे अधिक यह भाषा रही रमता जोगियों, साधु-संतों, तीर्थयात्रियों और बनिज के लिए दूर-दूर जानेवाले सौदागरों की अथवा हृदय को छूनेवाले साहित्य की। यह हिंदी को चलानेवाला वर्ग नहीं था, हिंदी इनकी गतिशीलता का आधार बनी। गतिशीलता हिंदी का दूसरा पर्याय है।

लचीलापन, उछाल लिए लचीलापन हिंदी की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है। वह बराबर दबावों में रही है। केवल दबाव सहने

की क्षमता बड़ी बात नहीं है, दबाव में उमंगित रहना बड़ी बात है। सत्ता के दरबार में चाहे किसी भाषा का बोल-बाला हो, उमड़ती हुई सुरसरि की भाषा हिंदी थी। जनाकांक्षा की भाषा हिंदी थी। ऐसा नहीं होता तो संस्कृत के पंडित तुलसी 'भाषाभनिति' को इतना महत्व नहीं देते और पंडितों के पंडित मधुसूदन सरस्वती तक उन्हें आनंदकानन का 'जंगमतुलसीतरु' नहीं कहते। केवल लचीलापन होता तो हिंदी भी फारसी के रंग में रंग गई होती।

इस समय हिंदी नदी के भीतर पहाड़ खिसक जाने से जो होता है, उस स्थिति में है। 'न ययौ न तस्थौ:' न आगे बढ़ पाती है न कुंड बनकर रह पाती है। यह पहाड़ अंग्रेजी का है। हिंदी के वे स्रोत जिनसे वह अपना जल भंडार भरती थी, उन जनपदीय भाषाओं के अविरल स्रोत को भी रोका जा रहा है यह तर्क देकर कि जनपदीय भाषाओं के उत्थान में हिंदी का पतन छिपा है। अब तो यह भी मांग हो रही है कि हिंदी का आरंभ भारतेंदु से माना जाए और उसके पूर्व का साहित्य चूंकि जनपदीय भाषाओं का है इसलिए उन्हें न पढ़ाया जाए।

सत्ता के लिए हिंदी बाधक है क्योंकि यह जनभाषा है और सत्ताएं हमेशा जनभाषाओं के विरोध में रही हैं। राजनीति ने उसे राष्ट्रभाषा का नाम दिया फिर राजभाषा, फिर संपर्क भाषा, फिर ऑफिसियल लैंग्वेज। देखते-देखते हिंदी का सगुण साकार रूप निर्गुण निराकार होता जा रहा है। पहले सुना था कि 'अमरकोश' सामने रखकर कविगण पर्याय तुकांत कविता में बैठाते थे। अब किसी विषय की पाठ्यपुस्तक लिखनी हो शब्दावली आपको सरकारी टकसाल से दी गई इस्तेमाल करनी पड़ेगी। इस प्रकार एक ओर मुंह पर ताला लगाया जा रहा है। दूसरी ओर अभियोग भी लगाया जा रहा है कि कृत्रिम हिंदी नहीं चलेगी। यह हिंदी नहीं चलेगी, इसे कुछ आसान बनाओ। लेकिन साहित्य ने इस दबाव को अस्वीकार कर दिया। यही हिंदी की जीवंतता है।

कहा जा रहा है कि अंग्रेजी हमारी अमानत है। अब वह सहचरी नहीं रही, वह कंधे पर सवार है। इसका एहसास कराया जाता है कि हिंदी है अंग्रेजी की कृपा से, साहित्य रचना में भी दबाव अंग्रेजी के द्वारा पहचान पाने का बढ़ रहा है। यह उलझन रचनात्मक संकट पैदा कर रही है। इसलिए यह याद कराना जरूरी है कि हिंदी केवल महावीर प्रसाद द्विवेदी की कसकर दुरुस्त की हुई हिंदी नहीं है। वह अपने भीतर संस्कृत की विचार क्षमता, विश्वमात्र को देखने वाली दृष्टि और अपने देशकाल से बाहर जाने की क्षमता समेटे हुए है। पालि-प्राकृत की जन-जन तक पहुंचने की प्यास समेटे हुए है। अवधी का प्रबंध रस भरे हुए है। ब्रजभाषा की मिठास और रवानगी लिए हुए है। वह डेढ़ सौ वर्षों में अन्य भाषाओं के साथ संपर्क निरंतर बढ़ाने का और स्वराज की भूमिका में उतरने का दायित्व संभाले हुए हैं। अन्य भाषाओं के अंत:संबंध से उसे शक्ति मिली है। किसी भाषा से उसका अंतर्विरोध नहीं है क्योंकि यह उसके स्वभाव में ही नहीं है।

हिंदी को एक ओर भोजपुरी, अवधी, बघेली, बुंदेली, ब्रज, कौरवी, गढ़वाली, कुमाऊंनी, हरियाणवी, पहाड़ी, राजस्थानी, मालवी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, मगही, और नगपुरिया बोलियों की उर्वर क्षमता को दुहने की अपेक्षा उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा को विकसित करने में अपनी भूमिका निभानी है। इन सबकी निधि हिंदी की निधि है। यह भाव तभी उचित होगा जब हम इस निधि की विशिष्टता की पहचान और साथ ही इस निधि की दूसरी जन-भाषाओं के साथ साझेदारी की पहचान कराने का दायित्व पूरी तरह संभालें।

इधर लेखन में आंचलिकता के नाम पर देशी परिवेश के साथ शब्दराशि तो आई है, पर इन लोकभाषाओं में रचना उपेक्षित होने के कारण एकांगी हो रही है। यह हिंदी का दायित्व है कि उनकी उपेक्षा न करके इन सोतों की तमाम प्रदूषणों से केवल रक्षा ही नहीं, इनके मर्म की पहचान व्यापक रूप से कराए। ये भाषाएं निरी कौतुक या तमाशा नहीं, युगों-युगों के अनुभव की जीती-जागती दीप शिखाएं हैं। ऐतिहासिक दाय के साथ हिंदी का वर्तमानकालीन दाय भी बड़ा है और उसे संभालना बड़े मन से ही संभव है। यह मन विजेता होने की स्मृति में नहीं जीता, न उसके स्वप्न में। यह विजेता नहीं अपराजेय मन होता है। निराला के राम के मन की तरह - जो नहीं झुका - बराबर आत्मीयता का आवाहन करके अपने भीतर शक्ति भरता रहा। हिंदी का मन शाही मन नहीं, फकीरी मन है। वह अपनी टाट पर सब के लिए जगह बना लेता है। भाषा का बोली से कोई विरोध नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते थे कि दाहिनी आंख का बाईं आंख से क्या विरोध हो सकता है? यही समझ लेना चाहिए कि दोनों आंखें सही रहें तभी हम पूरा देख पाएंगे - उस मिट्टी की, जो बोली का बिछौना है, या उस भवन को जिसे उस मिट्टी ने बनाया है जो भाषा का घर है। एक मुंडा लोकगीत है जिसमें मुंडा आदिवासी कहता है-

मैं सोता हूं धरती पर
बादल ओढ़े घास के बिछौने पर
सोता हूं मैं
इसलिए
कि मेरे कान धरती से सटे रहें।
जब रात गहराती है
तब कानों में धरती माता
अपनी रहस्यकथाएं सुनाती है
दुलारती है
लोरी गा-गा सुलाती है
जिनके कान होते हैं
उससे दूर
धरती उनसे कुछ नहीं कहती
कभी नहीं कहती।'

बोली की धरती पर हिंदी के कान होंगे तभी वह धरती की पीड़ा जान सकेगी या उसके उल्लास का अनुभव कर सकेगी। भाषा के कानों में जब बोली गुनगुनाती है तभी साहित्य का जन्म होता है। हिंदी के समस्त सर्जनात्मक साहित्य को इस आंख से देखा जा सकता है। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 23

हिंदी, महात्मा गांधी और हमारा समय

■ **जितेन्द्र श्रीवास्तव**
वरिष्ठ आलोचक

संपर्क: हिंदी संकाय, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली110068

आज यह कहने की जरूरत नहीं है कि हिंदी ही हम सबका ओढ़नाबिछौना है। हमारी पहचान है। इसलिए हिंदी की दशा और दिशा पर सोचना हमारा कर्तव्य भी है। सन् 1947 को गुजरे अड़सठ वर्ष होने को हैं, लेकिन 1947 में आजाद हुए इस मुल्क में इसकी राजभाषा हिंदी को लेकर हिंदी प्रदेशों के बाहर कोई उल्लास का स्वर नहीं है। हिंदी प्रदेशों का मध्यवर्ग, जो कल तक हिंदी-प्रेमी था, आज अंग्रेजी की राह पर है। जिन घरों की बैठकों में कभी 'दिनमान', 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' जैसी पत्रिकाएं रखी जाती थीं, वहां आजकल अंग्रेजी की कोई लोकप्रिय व्यावसायिक पत्रिका रखी मिलेगी या संभव है कि उसकी जगह सजावट का कोई सामान हो। इधर छपे हुए कागजों की अहमियत मध्यवर्ग के जीवन में तेजी से घटी है। और कहने की जरूरत नहीं कि सारा दोष टेलीविजन या इंटरनेट का नहीं है। इसके पीछे प्रतिस्पर्धा और तेजी से बदलती हमारी सोच है। हम अपनी जड़ों और जातीय परंपरा से कट रहे हैं।

आजकल कई मुद्दों पर महात्मा गांधी बारबार याद आते हैं। भाषा के मुद्दे पर तो अवश्य ही। वे मातृभाषाओं के घनघोर समर्थक थे। स्वयं गुजराती में लिखते थे। 27 दिसंबर, 1917 को कोलकता में गांधीजी ने कहा था- 'यदि हम अंग्रेजी के आदी नहीं हो गए होते तो यह समझने में हमें देर नहीं लगती कि अंग्रेजी के शिक्षा का माध्यम होने से हमारी बौद्धिक चेतना जीवन से कटकर दूर हो गई है, हम अपनी जनता से दूर हो गए हैं, जाति के सर्वश्रेष्ठ विभागों का विकास रुक गया है; और जो विचार हमें अंग्रेजी से मिल रहे हैं, उन्हें हम जनता में फैलाने में नाकामयाब रहे हैं। पिछले साठ व में हमने वर्षों में विचित्र-विचित्र शब्दों को केवल रटना सीखा है; तथ्यपूर्ण ज्ञान पचाने के बदले हमने शब्दों का उच्चारण सीखा है। जो विरासत हमें अपने बाप-दादों से मिली, उसके आधार पर नवनिर्माण करने के बदले हमने उस विरासत को भूलना सीखा है। इस दुर्गति की मिसाल सारी दुनिया में नहीं है। यह तो 'राष्ट्रीय शोक' अथवा 'ट्रेजडी' का विषय है।'

मैं किसी भी भाषा का विरोधी नहीं हूं। एक भाषा के रूप में अंग्रेजी का भी नहीं। लेकिन गांधी जी की बात से बहुत दूर तक सहमत हूं। हिंदी की आज जो भी स्थिति है, ठीक है, लेकिन यह तय है कि दौड़ में इस महादेश की राजभाषा होने के बाद भी है वह पिछड़ी है। यह हिंदी की अस्मिता का प्रश्न है। कोई माने या न माने, यह भारतीय भाषाओं की भी अस्मिता का प्रश्न है। हिंदी अगर डूबेगी तो कोई अन्य भारतीय भाषा भी शायद ही बचेगी। अंग्रेजी सबको निगल जाएगी।

संविधान के अनुसार यह तय हुआ था कि 1950 के पंद्रह वर्षों बाद हिंदी पूरी तरह अंग्रेजी की जगह ले लेगी, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। दक्षिण में व्यापक विरोध हुआ। उन्हें अंग्रेजी से नहीं, हिंदी से खतरा लगने लगा। नतीजा, आज नबर दो होने के बाद भी अंग्रेजी नंबर एक पर है और हिंदी ठकुआई हुई खड़ी है।

सन् 2011 में हिंदी की दशा और दिशा पर विचार करते हुए यह याद करना बहुत जरूरी है कि स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों में हिंदी को राष्ट्रभाषा कहने वाले लगभग सभी महापुरूष हिंदीतर प्रदेशों के थे। 1878 में बंकिम चंद्र ने हिंदी को राष्ट्रभाषा कहा था। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, टी. विजयराघवाचार्य, रवींन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, भूदेव मुखर्जी, कृष्ण स्वामी अय्यर जैसे लोगों ने हिंदी के लिए प्रयत्न किया। अलग से कहने की जरूरत नहीं कि कोई राष्ट्र अपनी भाषा को छोड़कर

हिंदी की आज जो भी स्थिति है, ठीक है, लेकिन यह तय है कि दौड़ में इस महादेश की राजभाषा होने के बाद भी है वह पिछड़ी है। यह हिंदी की अस्मिता का प्रश्न है। कोई माने या न माने, यह भारतीय भाषाओं की भी अस्मिता का प्रश्न है।

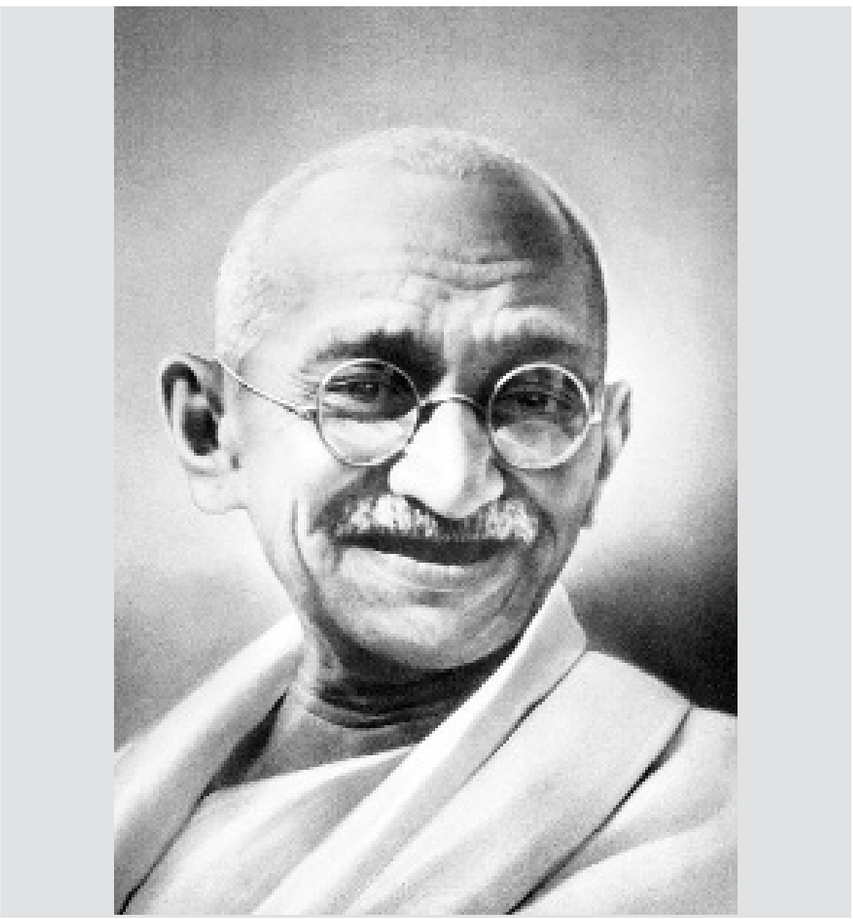

पूर्ण राष्ट्र नहीं कहला सकता। उसमें स्वाभिमान ही नहीं आ पाता। लेकिन हमारे देश में हिंदी को अक्षम और अविकसित सिद्ध करने के अनेक तर्क दिए जाते हैं, लेकिन उसके विकास के नाम पर सिर्फ दिखावा होता है। हिंदी पखवाड़े आयोजित किए जाते हैं। हमें चीन और पूर्व सोवियत संघ से सीखना चाहिए। इन राष्ट्रों में उन्नति अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हुई। दुनिया की प्रमुख भाषाओं में छपी उल्लेखनीय पुस्तकें चीनी भाषा में सरकारी प्रयासों से अनूदित की जाती हैं। वहां सरकार इस कार्य को प्रमुखता देती है।

भारतीय संदर्भ में गांधी जी का यह कहना बिल्कुल उचित था 'अगर स्वराज अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए होना है तो नि:संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी, लेकिन अगर स्वराज करोड़ों भूखे मरनेवालों, निरक्षरों और दलितों और अंत्यजों का हो और उन सबके लिए होनेवाला हो तो हिंदी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।' जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि मध्यवर्ग ने अंग्रेजी की राह पकड़ ली है। उसके बहुत थोड़े से लोग हैं जो अब भी हिंदी से सरोकार रखते हैं, लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि अब भी लगभग चालीस करोड़ के आस-पास लोग हिंदी में ही जीवन जी रहे हैं। ये ही हिंदी के वर्तमान और भविष्य हैं। इनमें पिछड़े, दलित और वंचित तबके की संख्या अधिक है। इनमें वे स्त्रियां भी हैं जिन्हें पढ़ने का अवसर ही नहीं मिलता। इन्हें जगाने की जरूरत है। शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन की जरूरत है।

भारत सरकार ने कभी जे.एन.यू. जैसे विश्वविद्यालय को बहुत उम्मीद से खोला था। जे.एन.यू. ने शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान भी किया, लेकिन जिस तरह उसका अंग्रेजीकरण हुआ, वह चिंता का विषय है। हिंदी के शीर्ष कवि और जे.एन.यू. में लंबे समय तक शिक्षक रहे केदारनाथ सिंह की एक कविता है 'जे.एन.यू. में हिंदी'। यह कविता हमारे शिक्षण संस्थानों की विडंबना को बेहद मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करती है। कविता की कुछ पंक्तियां हैं -

'विद्धानों की इस बस्ती में जहां फूल
भी एक सवाल है
और बिच्छू भी एक शब्द
मैंने एक दिन देखा एक अधेड़-सा
आदमी
जिसके कंधे पर अंगोछा था,
और हाथ में एक गठरी
'अंगोछा'-इस शब्द से
लंबे समय बाद मेरा मिलना हुआ
और वह भी जे.एन.यू. में!
वह परेशान-सा आदमी
शायद किसी घर का नंबर खोज रहा था
और मुझे लगा-कई दरवाजों को
खटखटा चुकने के बाद
अब वह हो गया था निराश
और लौट रहा था धीरे-धीरे
ज्ञान की नगरी से
उसका इस तरह जाना मुझे ऐसा लगा
जैसी मेरी पीठ पर कुछ गिर रहा हो
सपासप
कुछ देर मैंने उसका सामना किया
और जब रहा न गया चिल्लाया फूटकर-
'विद्वान लोगो, दरवाजे खोलो
वह जा रहा है
कुछ पूछना चाहता था
कुछ जानना चाहता था वह
रोको... उस अंगोछे वाले आदमी को रोको...
और वह तो मैंने बाद में जाना
उसके चले जाने के काफी देर बाद
कि जिस समय मैं चिल्ला रहा था
असल में मैं चुप था
जैसे सब चुप थे
और मेरी जगह यह मेरी हिंदी थी

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 25

जो भरे परिसर में
अकेली चिल्ला रही थी....'

लेकिन इन सबके बावजूद हिंदी को लेकर निराश होने की जरूरत नहीं है। अब हिंदी, कविता और कहानी के अलावा ज्ञान के अन्य अनुशासनों की भी भाषा बन रही है। अभी मूल किताबों की कमी है, लेकिन अनुवाद हो रहे हैं। इतिहास, जनसंचार, समाजशास्त्र आदि की अनूदित पुस्तकों के ढेरों उदाहरण हमारे सामने मौजूद हैं।

आज के समय में हिंदी की दिशा तय करते हुए हमें थोड़ा उदारवादी होना होगा। हमें शुद्धतावादी रवैया छोड़ना होगा। संविधान के अनुच्छेद 351 में कहा गया है- 'यह संघ का काम होगा कि वह हिंदी भाषा के प्रसार को बढ़ावा दे और इस प्रकार विकसित करे ताकि यह भारत की सामाजिक संस्कृतिक की सारी बातों को व्यक्त कर सके और इसकी समृद्धि को इसके ठेठ हिंदी के ठाठ से छोड़छाड़ किए बिना हिंदुस्तानी और आठवीं अनुसूची में दी गई अन्य भारतीय भाषाओं के रूपों, शैलियों और पदों को इसमें आत्मसात कराते हुए तय करे, और जहां कहीं जरूरी या ठीक लगे, इसके लिए शब्दों को मुख्य रूप में संस्कृत से और दूसरे विकल्प में अन्य भाषाओं से ग्रहण करे।'' लेकिन हुआ इसका उलटा। डॉ. रघुवीर ने हिंदी को 'नव संस्कृति' बना दिया। उन्होंने 'कठिन' और 'बोधहीन' शब्दों को निर्माण किया। आजादी के बाद डॉ. रघुवीर को पारिभाषिक शब्दावलियां बनाने का कार्य दिया गया था। डॉ. रघुवीर ने बेहद परिश्रम से यह कार्य किया, लेकिन जो शब्दकोश बना, वह हिंदी के लिए लाभकारी न हो सका।

हम हिंदी को शुद्ध-शुद्ध के नाम पर अपंग नहीं बनाना चाहते। हमें तरह-तरह की हिंदियों को महत्व देना होगा। जैसे- राजस्थानी हिंदी, हरियाणवी हिंदी, मलयाली हिंदी आदि। अंग्रेजी इसी तरह फलीफूली है-ब्रिटिश इंग्लिश, आस्ट्रेलियन इंग्लिश, अमेरिकन इंग्लिश, भोजपुरी भाषी अलग अंग्रेजी बोलता है और बांग्ला भाषी अलग तरह से और अंग्रेजी इस तरह विकसित हो सकती है तो भइया हिंदी का विकास इस तरह क्यों नहीं हो सकता!

भारतीय संदर्भ में गांधी जी का यह कहना बिल्कुल उचित था 'अगर स्वराज अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों का और उन्हीं के लिए होना है तो नि:संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी, लेकिन अगर स्वराज करोड़ों भूखे मरनेवालों, निरक्षरों और दलितों और अंत्यजों का हो और उन सबके लिए होनेवाला हो तो हिंदी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।' मध्य वर्ग ने अंग्रेजी की राह पकड़ ली है। उसके बहुत थोड़े से लोग हैं जो अब भी हिंदी से सरोकार रखते हैं।

यह दु:खद है कि डॉ. रघुवीर ने जिस हिंदी का प्रचार-प्रसार करना चाहा, वह आम हिंदी वाले की हिंदी नहीं है। संस्कृत एक महान भाषा है, लेकिन हम नहीं चाहते कि हिंदी एक दिन संस्कृत वाली महानता को पा कर आम जीवन से दूर हो जाए। हमें नहीं भूलना चाहिए कि किशोरीदास वाजपेयी जैसे विद्वान ने सगर्व घोषणा की थी कि 'हिंदी संस्कृत की बेटी नहीं है। यह बोलियों से विकसित भाषा है और इसका कोई भी विकास इसे बोलियों से काटकर नहीं किया जा सकता।'

आज हिंदी अकेले उन्नति नहीं कर सकती। मुक्तिबोध ने कहा है कि मुक्ति अकेले में नहीं मिलती। भाषा को भी मुक्ति अकेले में नहीं मिलती। हिंदी को जन भाषाओं और अन्य भारतीय भाषाओं के करीब जाना होगा। इससे उसका परिसर भी बढ़ेगा और स्वीकृति भी। आज हम नहीं जानते कि हमारी भाषा में कहां-कहां से शब्द आ गए हैं। हमने सबको पचा लिया। हम आज भी हिंदी में नए-नए शब्द लाएंगे तो आने वाली पीढ़ियां उसे पचा और बचा लेंगी। पत्रकारिता के नए-नए क्षेत्र खुल रहे हैं-सबमें हिंदी की मांग है। ई-पत्रकारिता की जोर-शोर से शुरुआत हुई है। इंटरनेट पर हिंदी में बहुत सारी सामग्री है। गूगल ने 'हिंदी ट्रांसलेशन' का एक रास्ता खोला है। जीमेल पर आप सीधे हिंदी में टाइप करके संदेष भेज सकते हैं।

आज हिंदी की दशा बहुत अच्छी है। स्वाभिमान से तनकर खड़े होने, अपनी भाषा में आचरण करने और किस्सा कविता से अलग ज्ञान के अन्य अनुशासनों तक हिंदी की निरंतर पहुंच बनाने की दिशा में कार्य करने की जरूरत है। हिंदी को बाजार की नहीं, बाजार को हिंदी की जरूरत है। जब तक आप स्वयं अपना और अपनी भाषा का महत्व नहीं समझेंगे तब तक दूसरा तो कतई नहीं समझेगा। कुछ लोग कहते हैं कि हिंदी यदि भारत के सभी प्रांतों के लिए अनिवार्य की जाएगी तो अखंडता भंग होने का खतरा बढ़ेगा। यह आशंका निराधार है। ऐसा बिल्कुल नहीं होगा, यदि हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ बहनापा का रिश्ता बना लेगी तो सारे गिले-शिकवे दूर हो जाएंगे। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 26

बेपेंदी समाज की लुढ़की हुई हिंदी

■ **प्रियदर्शन**
वरिष्ठ पत्रकार

संपर्क: ई-4, जनसत्ता सोसाइटी, सेक्टर- नौ, वसुंधरा, गाजियाबाद- 201012

हिंदी में 'प्राइमटाइम' का क्या अनुवाद हो सकता है? 'ब्रेकिंग न्यूज' के लिए हिंदी में क्या लिख सकते हैं? क्या 'ब्रेकफास्ट न्यूज' के लिए हिंदी में कोई कायदे का शब्द नहीं है? ये वे कुछ सवाल हैं जिनका सामना इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अपने आगमन के बाद से लगातार मैं करता रहा हूं। अक्सर ये सवाल जिज्ञासा के साथ शुरू होते हैं और इस नतीजे तक पहुंच कर निर्वासित हो जाते हैं कि हिंदी में आधुनिक भावों को वहन करने वाले शब्द हैं ही नहीं। वह एक 'स्मार्ट' भाषा नहीं है, उसमें 'स्मार्ट सिटी' का भी सही अनुवाद नहीं किया जा सकता। यह राय बनाने वालों के पास अपनी बात के पक्ष में और भी सबूत हैं। जब वे खेल की खबर लिखते हैं और पाते हैं कि 'फेबुलस फोर' का कोई अनुवाद उन्हें नहीं मिल रहा तो हिंदी की अपर्याप्तता का उनका भरोसा कुछ और पुख्ता हो जाता है। इसी तरह आर्थिक जगत में उन्हें सीआरआर यानी कैश रिजर्व रेशियो के लिए हिंदी का अनुवाद किसी पिछड़े दौर का जान पड़ता है और कंप्यूटर और सोशल मीडिया की खबरें लिखते हुए तो वे अंतिम तौर पर मान लेते हैं कि जब कनेक्टिविटी, साइबर क्राइम या स्पेक्ट्रम के लिए सही शब्द हैं ही नहीं तो अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल ही क्यों न किया जाए।

हिंदी के सैकड़ों चैनलों ने अपनी एक भाषा विकसित कर ली है। उनमें यह दुविधा कतई दिखाई नहीं पड़ती कि वे अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल करें या न करें। उल्टे यह प्रवृत्ति नजर आती है कि जो शब्द जरा भी हिंदीनिष्ठ लगें, उन्हें बाहर करके उनकी जगह अंग्रेजी का शब्द इस्तेमाल कर लिया जाए।

सच तो यह है कि हिंदी और अंग्रेजी के बीच का यह द्वंद्व लगातार उनकी नजर में खत्म होता जा रहा है। अब अनुवाद संबंधी सवाल पूछे जाने बंद हो गए हैं। बीते डेढ़ दशकों में देश में शुरू हुए हिंदी के सैकड़ों चैनलों ने अपनी एक भाषा विकसित कर ली है और उनमें यह दुविधा कतई दिखाई नहीं पड़ती कि वे अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल करें या न करें। उल्टे यह प्रवृत्ति नजर आती है कि जो शब्द जरा भी हिंदीनिष्ठ लगें, उन्हें बाहर करके उनकी जगह अंग्रेजी का शब्द इस्तेमाल कर लिया जाए। 'ऐक्सिडेंट' या 'क्रैश', 'पॉलिटिकल पार्टी', 'करप्शन', 'स्कैम', 'रेप' जैसे शब्द अब इतने आम हैं कि इनके मूल हिंदी शब्द दुर्घटना या हादसा, राजनीतिक दल, भ्रष्टाचार, घोटाला, बलात्कार जैसे दूर के और अजनबी शब्द महसूस होने लगे हैं। हिंदी मीडिया की इस नई शब्दावली में उन शब्दों की तो बिल्कुल गुंजाइश नहीं है जो कुछ दुरूह और रूढ़ ढंग से क्लिष्ट मान लिए गए हैं। इस लेख में प्रयुक्त बहुत सारे शब्द अगर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की डेस्क पर बैठा कोई पत्रकार अपनी स्क्रिप्ट में लिख दे तो शायद उसे नौकरी से निकाल दिया जाए- इस नसीहत के साथ कि वह हिंदी सीखकर आए।

इन सबका एक नतीजा तो यह हुआ है कि धीरे-धीरे एक आत्महीनता हिंदी का स्वभाव बनती जा रही है। उसमें नए शब्द गढ़ने का, शब्दों को अपनी सहजता के हिसाब से बदल सकने का आत्मविश्वास जाता रहा है। कभी हमने 'ऑफिसर' से 'अफसर' या 'प्लाटून' से 'पलटन' जैसे शब्द बदले, कभी 'आकाशवाणी', 'दूरदर्शन', 'दूरभाष' जैसे शब्द गढ़े, लेकिन आज हमारी कोशिश अंग्रेजी या विजातीय शब्दों को बिल्कुल उन्हीं रूपों और उसी उच्चारण के साथ अपनाने की होती है।

मुश्किल यह है कि जब आप इस प्रवृत्ति के विरुद्ध कुछ कहते हैं तो आपको शुद्धतावादी मान लिया जाता है। यह सच है कि शुद्धतावाद भाषाओं का दुश्मन होता है, उनको मार डालता है। भाषाएं आपसी मेलजोल से ही बनती-बढ़ती और विकसित होती हैं। लेकिन हर भाषा का अपना एक चरित्र होता है जो उसके समाज की कोख से निकला होता है। हमारा संकट यह है कि हम अपना चरित्र भूल गए हैं। हम जैसे परमुखकातर समाज हैं, वैसी ही अनुवाद आश्रित भाषा बोलने को मजबूर हैं। हम मान बैठे हैं कि जो इसका प्रतिरोध कर रहा है, वह पिछड़ा हुआ है, बाजार विरोधी है, आधुनिकता का हमकदम नहीं है और हिंदी

जे पी त्रिपाठी की एक कलाकृति

की हीनता का मारा है। वह जमाने के साथ चलने को तैयार नहीं। कहने की जरूरत नहीं कि किस सभ्यता-दृष्टि ने यह परमुखकातर समाज बनाया है।

बहरहाल, मीडिया और उसकी भाषा पर लौटें। यह एक वाजिब सवाल है कि जिन शब्दों के अनुवाद न मिलें, उनका हम क्या करें। प्राइम टाइम को प्राइम टाइम क्यों न लिखें और ब्रेकिंग न्यूज को ब्रेकिंग न्यूज क्यों न कहें। हिंदी का कोई समाचार चैनल इस मुश्किल से निबटना चाहे तो क्या करे। क्या वह कुछ कृत्रिम शब्द गढ़ें और उन्हें प्रचलन में लाने की कोशिश करें? लेकिन तब भी वह एक कंकड़नुमा ऐसी भाषा होगी जिसमें जातीय स्मृति और उसकी गंध नहीं होगी।

दरअसल समझने की बात यह है कि मीडिया की भाषा तब बदलेगी जब मीडिया का चरित्र बदलेगा। यानी जरूरत प्राइम टाइम या ब्रेकिंग न्यूज के अनुवाद खोजने की नहीं, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के मौजूदा चौखटे को पूरी तरह बदलने की है। जब हम मौजूदा चौखट्य तोड़ेंगे और नया चौखट्य बनाएंगे तो उसके अनुरूप शब्द भी चले आएंगे। अगर पहले से मौजूद नहीं होंगे तो फिर भी गढ़ लिए जाएंगे।

वैसे मीडिया में हिंदी के चरित्र पर बात करते हुए एक और प्रक्रिया पर ध्यान देना जरूरी है। आज हम जो हिंदी लिख रहे हैं, वह हिंदी के स्रोतों से आए हुए शब्दों के बावजूद ज्यादातर अनुवाद की भाषा हो गई है। जाने-अनजाने हम अपने चारों तरफ पसरे अंग्रेजी के जाल से इस तरह घिरे हुए हैं कि हिंदी लिखते हुए भी अंग्रेजी मुहावरों, अंग्रेजी की संरचनाओं का चुपचाप अनुवाद कर लेते हैं। फिर दोहराना होगा कि इस प्रक्रिया में हम एक अनूदित विचार प्रक्रिया का वहन भी कर रहे होते हैं। वैसे सच यह है कि दुनिया भर में भाषाओं की दूरी घटी है और उनका वैशिष्ट्य नष्ट हुआ है। भाषाविद बताते हैं कि आज की तारीख़ में जो आर्थिक भूमंडलीकरण है, उसने भाषाओं पर भी अपनी छाप छोड़ी है। दुनिया की सारी भाषाएं अपने वाक्य-विन्यास में एक जैसी हुई जा रही हैं।

मगर हिंदी या भारतीय भाषाओं के संदर्भ में भूमंडलीकरण की यह प्रक्रिया एक दूसरी विडंबना भी पैदा कर रही है। पहले से एक औपनिवेशिक विरासत का जुआ ढो रही हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को अपने देश में दोयम दर्जा हासिल है। अपने साम्राज्यवादी अतीत के साथ अंग्रेजी अब भी शासकों की भाषा बनी हुई है और बहुत ही छोटी आबादी इसके जरिए सारे संसाधनों और सारे मौक़ों पर काबिज है। साठ और सत्तर के दशकों में देश भर में अंग्रेजी विरोधी आंदोलनों की एक लहर चली थी। जनसंघी राजनीति हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान का नारा देती थी और समाजवादी राजनीति भारतीय भाषाओं की बात करती थी। लेकिन आज की तारीख़ में भाषाओं का सवाल राष्ट्रीय अस्मिता और स्वाभिमान का सवाल नहीं है, अवसरों की हिस्सेदारी जीतने का सवाल है। यही वजह है कि भाषाओं की बात करने वाले हाशिए पर भी हैं, हास्यास्पद भी बने हुए हैं और पूरा हिंदुस्तान अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ा रहा है- इस व्यावहारिक समझ के साथ कि अंग्रेजी में इस देश में कोई भविष्य है।

हिंदी मीडिया पर इस समाजशास्त्रीय सच्चाई की भी मार है। जो लोग ये चैनल चला रहे हैं, वे मूलत: अंग्रेजी के हैं। उनको मालूम है कि जिस दर्शक वर्ग से उनको संवाद करना है, वह भी अंग्रेजी का है। हिंदी उसके लिए ज्ञान और विशेषज्ञता की भाषा नहीं, बस एक बोली है जिसमें मनोरंजन हो सकता है, सनसनी दिखाई जा सकती है, हंसी-मजाक और अंधविश्वास भी चलाया जा सकता है, लेकिन गंभीर खबर और विश्लेषण के समय इस हिंदी को अंग्रेजी की शब्दावली और उसके मुहावरों की मदद लेनी होगी। जाहिर है, चैनलों के भीतर दिखने वाला हिंदी का संकट दरअसल पूरे समाज का संकट है। वह एक स्मृतिविहीन और सरोकारविपन्न समाज है जिसे अपनी भाषा की फिक्र नहीं है- एक समाज के रूप में अपने स्वाभिमान और सृजन की परवाह नहीं है। ऐसे समाज को ऐसी ही मीडिया मिलेगी, ऐसी ही भाषा मिलेगी। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 28

हिंदी को राजभाषा नहीं काजभाषा बनाइए

■ **ओम निश्चल**
समीक्षक व भाषा चिंतक

संपर्क: जी-1/506ए,
उत्तम नगर,
नई दिल्ली -110059

सवाल यह है कि हिंदी में तकनीकी सुविधाओं के उपलब्ध होने के बावजूद का उसका कितना लाभ उठाया जा रहा है। इसलिए सिफत इस बात में नहीं है कि हिंदी राजभाषा के पद पर विराजमान है बल्कि जरूरत है इसे कामकाज की भाषा बनाए जाने की।

यह बोर्डिंगों, विज्ञापनों, साइनबोर्डों, पदनामों में दिखेगी, यह मतदाताओं को रिझाने वाली भाषिक मुद्राओं और वोट के लिए की जाने वाली अपील और आह्वानों में दिखेगी, यह चौराहों, चौपालों, नुक्कड़ों पर चल रही बतकहियों में दिखेगी, ग्राम और पंचायत सभाओं में दिखेगी, भद्रजन के समक्ष भीख के लिए रिरियाती जबान में दिखेगी, यह हिंदी के पेशेवर अधिकारियों, अध्यापकों, वार्ता विभागों और संपादकों की बतकहियों और हद से हद उनके प्रभामंडल के दो-तीन फुट की परिधि में दिखेगी पर यह कामकाज में प्राय: न दिखेगी, फाइलों में न दिखेगी, रजिस्टरों में न दिखेगी। हिंदी के प्रयोग की अधिक से अधिक हद उपस्थिति रजिस्टर है पर जहां यह रजिस्टर नहीं हैं, वहां यह भी नहीं दिखेगी। 'कम्प्यूज मटर' के इस जमाने में 'डिपार्टमेंटल स्टोर्स' और मॉल में लगे बिल निस्तारण पैकेज में नहीं दिखेगी, बैंकों की सीबीएस प्रणाली में जब तक कि ऐसी अंतर्निहित वर्णवस्था न हो, नहीं दिखेगी- सभी जगह बाई डिफाल्ट्ज अंग्रेजी चल रही है, चलती रहेगी क्योंकि हिंदी हमारी राजभाषा तो है पर हमारे कामकाज की प्राथमिकता सूची में नहीं है।

हिंदी को बढ़ावा देने में बहुत सारी संस्थाएं जी-जान से लगी हैं। केंद्र का संरक्षण इसे प्राप्त है। हिंदीभाषी राज्यों का संरक्षण इसे हासिल है। संवैधानिक व्यवस्था में यह राजभाषा है, सभी भाषाओं में अग्रधावक पर जहां कामकाज की बात आती है, यह सबसे पीछे है। यह पीछे चलने में गौरव की अनुभूति करती है। प्राय: हर जगह पहले अंग्रेजी मसौदा बनता है, फिर उसका अनुवाद होता है। चाहे आकाशवाणी व दूरदर्शन के समाचार हों या दफ्तरों में जारी होनेवाले आदेश, परिपत्रादि। आजादी के 68 वर्षों बाद भी हिंदी में कामकाज की स्वत:स्फूर्त प्रेरणा नही जागृत हो पाई है।

हिंदी 'बर्थडे बेबी' है। 14 सितंबर 1949 का यादगार दिन इसके लिए थाती की तरह है। यही वह दिन है जिसके लिए पूरे साल हिंदी अधिकारी मेहनत करते हैं, पूरे साल हिंदी हिंदी करते हैं। हिंदी को भारत के माथे की बिंदी और मां कह कर अपने राष्ट्रवादी भारत भक्त के मन को सांत्वकना देते हैं। हिंदी में कभी कलम न खोलने वाले भी 'एक्सक्यूज मी फॉर स्पीकिंग इन इंग्लिश' कहते हुए इस दिन भी अंग्रेजी में हिंदी पर प्रभावशाली भाषण झाड़ते हैं। पूरे माह इनाम इकराम के तोहफे बांटे जाते हैं। हिंदी में काम करने वाले को धन्य धन्य निगाह से देखते हैं। बैठकें होती हैं, कार्यवृत्त बनते हैं, कार्यवाहियां होती हैं, फिर धीरे-धीरे हिंदी अपनी पुरानी चाल पर लौट आती है। इस चौतरफा दुंदुभि के बावजूद हिंदी, हिंदीभाषियों के मन में तनिक भी शर्म का भाव जागृत नहीं कर पाती कि लोग इनाम इकराम लेकर भी हिंदी में काम तो करें।

हिंदी की इस दुर्दशा के लिए कौन जिम्मेदार है? क्या संविधान, क्या नियम-उपनियम-संहिताएं या हमारा मानवीय आचरण? हिंदी के नाम पर इतनी कार्यशालाएं, गोष्ठियां, यात्राएं, व्याख्यान- फिर भी हिंदी दुहाजू की बीबी कहलाती है- अंग्रेजी में कोई बैठक कोई कार्यशाला, कोई व्याख्यान-माला नहीं चलती और वह कामकाज की पटरी पर राजधानी की रफ्तार से चलती दीखती है। इतने रचनात्मक धक्के और शासकीय प्रोत्साहन के बावजूद हिंदी जहां की तहां खड़ी है अपने तथाकथित हितैषियों का मुंह जोहती हुई कि कभी तो कोई ऐसा होगा जो अपने हिंदू नहीं, हिंदी होने पर गर्व करे जैसे चीनी अपनी भाषा पर करता है, जर्मन करता है, जापानी करता है, अंग्रेज करता है। यह जातीय गर्व और जातीय उन्माद से भर जानेवाला देश तो है, पर भाषा के प्रति इसके नागरिकों में रत्ती भर भी गर्व का भाव नहीं जागता। हां, हमारे राष्ट्र नेताओं में से अधिकांश के लिए हिंदी पर गर्व इसलिए कि यह राजनीतिक सत्ता हथियाने की कुंजी है। वरना हिंदी-हिंदी करना जीविका के अवसर गंवाने की गारंटी है। सच भी है, जो भाषा

जीविका नहीं दे सकती है, वह अपने नागरिकों का समर्थन भी हासिल नहीं कर सकती।

हिंदी की जरूरत किसे है?

कोई भी भाषा अपने देश की संस्कृति संवेदना का माध्यम व संवाहक होती है। वह संवेदना संस्कृति की प्राणवायु बन कर मनुष्य से मनुष्य के भीतर सांस्कृतिक चेतना के बीज बिखेरती है। यह कुंवर नारायण की कविता की तरह ट्यूनीशिया का वह कुआं है जिसकी अंतर्धारा पूरी दुनिया के कुएं से होकर गुजरती है जो मानवता की प्यास बुझाती है।

कहते हैं, तकनीक के तने पर भाषाओं की बेल फूलती है। अब तकनीक तो हिंदी में भी सुलभ है। बैंकों में सीबीएस, शब्द संसाधन के लिए यूनीकोड फॉण्ट्स, इंटेलीजेंट की बोर्ड, बिना देवनागरी के अक्षर बटन दबाए हिंदी में आउटपुट लेने की सुविधा, मंत्र और गूगल ट्रांसलेट के जरिए अनुवाद की त्वरित सुविधा, स्पीच टू टेक्स्ट, लिप्यंतरण, फॉण्ट परिवर्तन, पेजमेकर, क्वार्क, इनडिजाइन आदि प्रणालियों में हिंदी के उपयोग की निर्बाध सुविधा, ऑनलाइन डिक्शनरी, थिसारस और तमाम तरह के मानक मसौदे –फिर भी हर किसी का हिंदी में हाथ तंग है। देखते-देखते सारी मोबाइल कंपनियों ने मोबाइल में हिंदी टाइपिंग की सुविधा दे दी है, आईपैड, टैबलेट सबमें टाइपिंग टूल के जरिए हिंदी में संदेश भेजे जा सकते हैं, काम हो सकता है, पर हिंदी चैट व बतकहियों की भाषा से आगे काजभाषा तक नहीं पहुंच पाई है। वह राजभाषा के चबूतरे पर बैठी अपने इक्का-दुक्का प्रेमियों की बाट जोहती है।

हिंदी का यह हाल जब हिंदुस्तान में है तो दीगर मुल्कों में कहना ही क्या। वह इन देशों में भारतवंशियों के समुदाय की भाषा भर है। वह भी तिथि त्योहारों पर भारतवंशियों के बीच बरती जाने वाली। हम उन देशों में हिंदी की भाषाई स्वीकार्यता पर गौर करें जैसे फिजी, त्रिनीदाद, सूरीनाम, मॉरीशस, जहां सदियों पहले पानी के जहाजों पर बैठ कर गिरमिटिया परंपरा में हमारे भारत के मजदूर पहुंचे तो हम देखते हैं कि भारतवंशियों ने इन देशों को अपने श्रम और कर्मठता से मालामाल किया, धरती को शस्य श्यामला छवि दी, पर सुदामा की तरह अपनी संस्कृति को कांख में चावल की पोटली की तरह दबाए अपनी भाषा को उस जमीन पर पल्लवित-पुष्पित न कर सके। वह वहां भी अतीत की स्मृतियों की भाषा तो बनी, कर्मकांड की भाषा के रूप में भारतवंशियों की दिनचर्या का हिस्सा तो बनी, पर वर्तमान की भाषा और कारोबारी जरूरतों की भाषा नहीं बन सकी। सूरीनाम में सरनामी हिंदी अवधी व भोजपुरी के मेल से बनी है, मॉरीशस लगभग भोजपुरियों का ही देश कहा जाता है, त्रिनीदाद, गयाना व फिजी में भी भारतवंशियों के समुदाय फैले हैं, पर हिंदी वहां भी वह भाषाई गौरव हासिल नहीं कर सकी जिसकी वह हकदार है। ऐसे में पूछने का मन होता है, आखिर आज के अंग्रेजीपरस्त जमाने में हिंदी की जरूरत किसे है?

विश्व हिंदी सम्मेलनों का यथार्थ

विगत में नौ विश्व हिंदी सम्मेलन हो चुके हैं। हर सम्मेलन में भाषाओं, व्याख्यानों, सत्रों की सुनिर्धारित तालिका बनती है, मंडप और द्वार सजते हैं, पर ढाक के वही तीन पात। कुल मिलाकर वातावरण तफरीह और उत्सव का ही बनता है, क्योंकि सम्मेलन में सरकार का संरक्षण मिलने के कारण अंत:करण से हिंदी प्रस्फुटित नहीं होती। ओहदेदार लोग अपनी हैसियत की बदौलत इसमें शामिल तो होते हैं, पर दो-तीन दिन खा-पीकर और जजमान का आतिथ्य ग्रहण कर लौट जाते हैं। इनमें जो थोड़े-से हिंदी प्रेमी और लेखक, साहित्यकार होते भी हैं, उन्हें न तो वांछित सत्रों में बोलने का अवसर मिलता है, न ही उनके सुझावों की कोई दरकार होती है- और इस बार तो सम्मेलन में भाग लेने के लिए पंजीकरण शुल्क ही पांच हजार रुपये है, वह भी केवल प्रवेश शुल्क और भोजन के निमित्त। आना जाना, ठहरना यह व्यय हिंदी प्रेमियों को खुद उठाना है। ऐसे में भला कौन हिंदी का लेखक अपने पास से पैसा खर्च करके सम्मेलन में आएगा?

विश्व हिंदी सम्मेलन, जिसकी नींव भारत में ही पड़ी और पहला सम्मेलन भी यहीं नागपुर में हुआ, उसकी स्मृति हिंदी के एक लेखक के मन में ऐसी बनी कि उनकी बात सुनकर

खिन्नता और शर्मिंदगी का बोध ही जागता है। सम्मेलन में भाग लेनेवाले लेखक, संपादक प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनी पुस्तक 'हिंदी: कल आज और कल' में इस पहले विश्व हिंदी सम्मेलन का जो खाका खींचा है, उसे पढ़कर मन विचलित हो उठता है। वे कहते हैं, 'सत्रों के शीर्षक जितने उदात्त हैं, उनमें उतनी ही कलाबाजियां, हिंदी के हित में दिए व्याख्यानों में संस्कृत के उद्धरण, पुस्तक प्रदर्शनी की श्रेष्ठ पुस्तकों में श्रेष्ठ पुस्तकों के चयन का कोई मानक ही नहीं था। पत्रिकाओं के नाम पर केवल 'धर्मयुग' बिक रही थी। एक भी वैचारिक लघु पत्रिका प्रदर्शित न थी जबकि उस दौर में लघु पत्रिकाएं ही नई चाल की हिंदी गढ़ रही थीं। वे केवल भाषा ही नहीं, साहित्य की अंतर्धाराओं को एक नया मोड़ दे रही थीं। रात्रि में मनोरंजन के नाम पर सतही नाट्य प्रस्तुतियां और आखिरी दिन हुए कवि सम्मेलन का एकदम फूहड़ व दरिद्र प्रदर्शन, जिसमें उस वक्त जीवित कवियों में न धूमिल थे, न अनेक पीढ़ियों-धाराओं के प्रतिष्ठित कवि। प्रभाकर श्रोत्रिय कहते हैं, सम्मेलन में नए और क्रांतदर्शी लेखकों की अनुपस्थिति का खालीपन था।

पहले विश्व हिंदी सम्मेलन में ही हिंदी को राष्ट्रसंघ की भाषा बनाने का मसौदा तैयार किया गया था पर यह अब तक संभव नहीं हुआ, केवल गौरव-गान के सिवा। सम्मेलनों के आमंत्रितों की सूची में हिंदी के प्रगतिशील नए लेखकों के नाम नदारद ही रहते हैं, श्रेष्ठ कवि, उपन्यासकार, कथाकार, विचारक इनमें एकाधिक ही होते हैं, संपर्कवाद से पनपे बुद्धिजीवियों एवं ओहदेदारों की फौज इनमें ज्यादा होती है। इस तरह विश्व के सबसे बड़े मंच पर हिंदी का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। कहना न होगा कि हिंदी को ओढ़ने-बिछाने वाले लोग सदैव नेपथ्य में रहते आए हैं और हिंदी प्रचार को सीढ़ी बनाकर विदेश यात्राओं के अभिलाषी मंच पर छाए रहते हैं।

इस बार संयोग से विश्व हिंदी सम्मेलन पुन: भारत में हो रहा है- भोपाल में, जो कि हिंदीभाषी प्रदेश है। यह पुन: सरकार के पैसे पर तथाकथित राष्ट्रभाषा प्रेमियों की जुटान है। सम्मेलन की विषय-सूची और उद्घाटनों, व्याख्यानों की तालिका इस बार भी लंबी-चौड़ी है पर आमंत्रितों की सूची देखकर निराशा होती है। लिहाजा विभिन्न सत्रों में कैसी और क्या बहसें होंगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। क्या वहां हिंदी के श्रेष्ठ के कवि, चिंतक, विचारक होंगे, जिनकी साहित्यिक या अकादमिक जगत में प्रतिष्ठा है, इसका उत्तर तो सम्मेलन की समाप्ति पर ही मिलेगा कि पिछले सम्मेलनों में ली गई प्रतिज्ञाओं का क्याह हश्र हुआ और उनकी इस सम्मेलन में क्या् फलश्रुति रही? देखना है कि इस बार क्या-क्या नए प्रस्तारव पारित होते हैं।

अब तक हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों में प्रस्ताव तो अनेक पारित हुए पर उनमें से कुछ प्रस्ताव ही साकार रूप ले सके। यथा, भारत में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना की जा चुकी है, मॉरीशस में स्थापित विश्व हिंदी सचिवालय ने कार्य करना शुरू कर दिया है तथा 10 जनवरी का दिन विश्व हिंदी दिवस के रूप में निर्धारित किया गया है।

विश्व हिंदी सम्मेलन की संकल्पना राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा 1973 में की गई थी। संकल्पना के फलस्वरूप, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्वावधान में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन 10 से 12 जनवरी 1975 को नागपुर में आयोजित किया गया था। इसके बाद विश्व हिंदी सम्मेलन दो बार पोर्ट लुई (मॉरीशस) में, दो बार भारत में, पोर्ट ऑफ स्पेन (ट्रिनिडाड एण्ड टोबैगो), लंदन, पारामारिबो (सूरीनाम), न्यूयार्क (अमेरिका) और जोहांसबर्ग (दक्षिण अफ्रीका) में आयोजित किया जा चुका है। भारत में तीसरी बार विश्व (हिंदी सम्मेलन का आयोजन भोपाल में हो रहा है। पहले विश्व हिंदी सम्मेलन का एक बोधवाक्य निर्धारित किया गया, वसुधैव कुटुंबकम् जो चौथे सम्मेलनों तक चलता रहा। बाद में एक केंद्रीय विषय रखने की परंपरा भी सम्मेलनों के साथ विकसित हुई । त्रिनीदाद में आयोजित पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन का विषय था- आप्रवासी भारतीय और हिंदी। लंदन में आयोजित छठे सम्मेलन का विषय था- हिंदी और भावी पीढ़ी। सूरीनाम में आयोजित सातवें सम्मेलन का विषय रखा गया था- विश्व हिंदी: नई शताब्दी की चुनौतियां। अमेरिका में आयोजित आठवें सम्मेलन का विषय था, विश्व मंच पर हिंदी तो दक्षिणी अफ्रीका में आयोजित किए गए नौवें सम्मेलन का विषय रखा गया- भाषा की अस्मिता और हिंदी का वैश्विक संदर्भ। इस बार विश्व हिंदी सम्मेलन के केंद्र में है- हिंदी जगत: विस्तार एवं संभावनाएं। इसमें विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, सूचना प्रौद्योगिकी, प्रशासन और विदेश नीति, विधि, मीडिया आदि के क्षेत्रों में हिंदी के सामान्य प्रयोग और विस्तार से संबंधित तौर-तरीकों पर चर्चा होगी।

अब तक हुए विश्व हिंदी सम्मेलनों में प्रस्ताव तो अनेक पारित हुए पर उनमें से कुछ प्रस्ताव ही साकार रूप ले सके। यथा, भारत में महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना की जा चुकी है, मॉरीशस में स्थापित विश्व हिंदी सचिवालय ने कार्य करना शुरू कर दिया है तथा 10 जनवरी का दिन विश्व हिंदी दिवस के रूप में निर्धारित किया

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 31

गया है। विश्वव्यापी हिंदी शिक्षण की संभावनाओं और जरूरतों के बावजूद विदेशों में हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण का कोई मानक पाठ्यक्रम अभी तक नहीं बनाया जा सका है। अरसे से प्रवासी लेखकों की यह मांग रही है कि उनकी रचनाएं भी आदान-प्रदान स्वरूप भारत के विश्वविद्यालयों के हिंदी पाठ्यक्रमों में प्रवासी हिंदी लेखन के रूप में रखी जाएं। इस क्षेत्र में कुछ विश्वविद्यालयों ने कदम उठाए हैं किंतु कुछ को छोड़कर बाकी ने अपने पाठ्यक्रमों में बदलाव नहीं किया है। कुछ लोगों की धारणा है कि प्रवासियों द्वारा रचित अधिकांश साहित्य अभी मुख्यधारा के हिंदी लेखक की भांति स्तरीय नहीं है।

यों तो विश्व हिंदी सम्मेलनों के आयोजन का उद्देश्य न केवल हिंदी को विश्व स्तर पर प्रचारित करना है बल्कि इसके साथ ही वैश्विक स्तर पर भारत की छवि का निर्माण करना भी है। अब तक की यात्रा में हिंदी ने बहुत कुछ पाया है । राष्ट्रभाषा तो यह थी ही, संविधान सभा द्वारा राजभाषा का दर्जा दिए जाने और राजभाषा नियमों के लागू होने के बाद संसाधनों के मामले में भी हिंदी समुन्नत होती गई। टाइपराइटिंग की श्रमसाध्य दुनिया से निकल कर कंप्यूटर पर हिंदी टाइप करना कितना आसान हो गया है। शब्दाकोश तथा तमाम सहायक सामग्री ऑनलाइन सुलभ है। सूचना प्रौद्योगिकी ने हिंदी की राहें आसान की हैं। वेब माध्यमों में हिंदी का साम्राज्य फैल रहा है। पर शिक्षा माध्यम के रूप में हिंदी को वह अहमियत नहीं दी गई जिससे हिंदी में प्रखर बौद्धिक चेतना का निर्माण होता। उच्च शिक्षा व तकनीकी शिक्षण में हिंदी की विशेष भूमिका न होने से हिंदी को रोजगार दिलाने में जो वेटेज मिलना चाहिए था वह नहीं मिल सका। अत: कुल मिलाकर मामूली सरकारी कामकाज के सिवा अन्यत्र हिंदी वह अपरिहार्य सत्ता नहीं हासिल कर सकी जो अंग्रेजी को उसकी गुणवत्ता व व्यावसायिक सामर्थ्य के कारण सहज ही हासिल है।

हिंदी: वोट कमानेवाली भाषा, नोट कमानेवाली नहीं

हिंदी को बढ़ावा देने में बहुत सारी संस्थाएं जी-जान से लगी हैं। केंद्र का संरक्षण इसे प्राप्त है। संवैधानिक व्यवस्था में यह राजभाषा है, सभी भाषाओं में अग्रधावक पर जहां कामकाज की बात आती है, यह सबसे पीछे है। प्राय: हर जगह पहले अंग्रेजी मसौदा बनता है, फिर उसका अनुवाद होता है। आजादी के 68 वर्षों बाद भी हिंदी में कामकाज की स्वत:स्फूर्त प्रेरणा नही जागृत हो पाई है।

भारत में बेशक हिंदी राजकाज की भाषा है। कुछ रोजगारयाफ्ता लोग हिंदी की सेवाओं से जुड़कर हिंदी में कामकाज को अंजाम देते हैं, पर ज्यादातर काम संवैधानिक बाध्यताओं के चलते ही होता है। अधिकांशत: हिंदी में कामकाज को गौण रहने देते हुए, केवल उसके दिखावटी आयोजनों की बदौलत वाहवाही लूटी जाती है। सच तो यह है कि हिंदी वोट कमानेवाली भाषा तो बन पाई, पर नोट कमाने वाली भाषा नहीं बन सकी। हिंदी में अनवरत बैठकें चलती हैं, अनवरत कार्रवाइयां होती हैं, सारे साल प्रतियोगिताएं चलती हैं पर हिंदी का प्रभुत्व कायम होता हुआ नहीं दीखता। इन दिनों विद्यार्थी बमुश्किल हाई स्कूल तक हिंदी पढ़ते हैं- माध्यमिक स्तर पर या उससे आगे चलकर वे उच्च शिक्षा के जिन सोपानों पर होते हैं, हिंदी वहां नहीं होती। इसका कारण है कि हिंदी में रोजगार नहीं है, रोजगार की कोई गारंटी नहीं है। जबकि अंग्रेजी पढ़ाई का माध्यम भी है और रोजगार की गारंटी भी। हिंदी माध्यम से एमबीए पढ़ा आदमी तेल बेचे, इससे ज्यादा बेहतर है, अंग्रेजी माध्याम से एमबीए कर एयरक्राफ्ट की खरीद-फरोख्त के धंधे से जुड़े।

हिंदी स्थानीय बाजार व जरूरतों की भाषा हो सकती है, जैसे जिला व सत्र न्यायालयों की भाषा तो है पर उच्च् व उच्चतम न्यायालय की भाषा नहीं। ऐसा होने की हाल फिलहाल कोई संभावना भी नहीं, बल्कि केंद्र सरकार ने फिर स्पष्ट किया है कि सुप्रीम कोर्ट और हाईकोर्टों में कामकाज की भाषा को हिंदी करना संभव नहीं है। केंद्र ने यह बात शपथपत्र के माध्यम से सुप्रीम कोर्ट में एक जनहित याचिका के जवाब में कही है।

याचिकाकार का कहना था कि अनुच्छेद 348 जो सुप्रीम कोर्ट तथा देश के 24 हाईकोर्टों में अंग्रेजी को आधिकारिक भाषा बनाने का निर्देश देती है, असंवैधानिक है। उसका कहना था कि अंग्रेजी गुलामी की भाषा है, जिसे वादी समझ नहीं पाते। किंतु गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग ने याचिका के इस प्रस्ताव को खारिज कर दिया कि उच्च न्यायपालिका में कामकाज की भाषा हिंदी हो सकती है। विभाग ने राष्ट्रीय विधि आयोग की 2008 में दी गई 216 वीं रिपोर्ट को आधार बनाते हुए कहा है कि इस रिपोर्ट में उच्च न्यायपालिका में हिंदी लागू करने के मुद्दे को अच्छी तरह से विश्लेषित किया गया था। साथ ही विभाग ने उच्च न्यायपालिका की राय का भी उल्लेख किया है, जिसमें अंग्रेजी को ही कार्यवाही की भाषा बने रहने की बात कही गई थी।

आयोग ने कहा था कि उच्च न्यायपालिका में बहस अंग्रेजी में ही होती है। अमेरिका व ब्रिटेन का विधिक साहित्य भी अंग्रेजी भाषा में ही है। अंग्रेजी भाषा के कारण जजों का देश में कही भी स्थानांतरण संभव है तथा हाईकोर्ट के जजों को प्रोन्नत कर सुप्रीम कोर्ट का जज

बनाना भी आसान हो जाता है।

हालांकि, संविधान के अनुच्छेद 348 के उप अनुच्छेद 2 में यह व्यवस्था है कि राज्य के राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से हाईकोर्ट में हिंदी को कार्यवाही की भाषा बना सकते हैं। पर उच्च व उच्चतम न्यायालयों में हिंदी में कार्यवाहियों व निर्णयों की भाषा बनाने का प्रावधान भी बिना ऐसा विधेयक लाए संभव नहीं है और यह सरकार के लिए एक टेढ़ी खीर है। लिहाजा 1950 से 65 साल बीत जाने पर भी न्यायालयों में हिंदी को लेकर यह गतिरोध ज्यों का त्यों कायम है। पर केवल यही नहीं, संविधान के 1950 में लागू होने के मात्र 15 वर्ष तक अंग्रेजी को जारी रखने की संस्तुति की गयी थी, उसे खत्म करने का प्रावधान अब तक नहीं किया जा सका है जबकि 15 वर्ष बीतने के 2 वर्ष पहले ही 1963 में बनाए गए राजभाषा अधिनियम के केंद्र में द्विभाषिकता की अनिवार्यता है जो अहिंदीभाषी राज्यों को भी स्वीकार्य है पर 1976 में पारित राजभाषा नियम को हमारे ही देश का एक राज्य (तमिलनाडु) जो संविधान के अन्य अधिकारों का लाभ तो उठाता है, नहीं मानता, क्योंकि द्विभाषिकता के प्रावधानों को ज्यों का त्यों बने रहने देते हुए इन नियमों के अंतर्गत हिंदी के हित में कुछ अग्रगामी कदम उठाए गए हैं।

यह विडंबना ही है कि न्याय प्रक्रिया के एक बड़े परिसर में हिंदी का प्रयोग लगभग निषिद्ध है। इसलिए हिंदी पूर्णत: सरकारी या निजी कामकाज की भाषा नहीं बन पाई तो अचरज नहीं होना चाहिए। शायद यही वजह है कि जब हिंदी के एक समाजवादी कवि रघुवीर सहाय ने इसे 'दुहाजू की बीवी' कहा तो हिंदी प्रेमियों के अंत:करण को जरा ठेस लगी। पर इस ठेस के निराकरण के लिए हिंदी समाज ने कोई सुनिश्चित त कदम उठाए हों, ऐसा नहीं दीखता।

सचाई यह कि हिंदी की व्यावसायिक गुणवत्ता और भाषाई स्पष्टता को कभी कसौटी पर रखकर देखा ही नहीं गया। लिहाजा सारी जिंदगी आदमी अंग्रेजी सीखकर गिटपिट-गिटपिट करता रहता है पर जन्म से ही मां से सीखी इस भाषा में अपनी काबिलियत बढ़ाने को लेकर कभी उत्सातहित नहीं होता।

हिंदी का हीनताबोध

हिंदी को लेकर ये बातें लाख हमारी चिंताओं में शामिल हों, हम हिंदी की चाल-ढाल में ढलने से गुरेज करते हैं। यही कारण है कि भारतीय आबोहवा में पल्लवित और पुष्पित हुई इस भाषा की बेल को सींचने वाले कम हैं, इसकी छाया में बैठकर सुख लेने और सुस्ता ने वाले ज्यादा हैं। अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया कंपनी कायम की तो उसका काम भारत में व्यापार फैलाना था और व्यारपार फैलाने में हिंदी या भारतीय भाषाएं उपयोगी हो सकती थीं तो उन्होंने जार्ज ग्रियर्सन के माध्यम से सबसे व्यापक भाषा सर्वेक्षण करवाया।

आज भी हिंदी जहां जहां व्यापार-कारोबार में सहायक है, उसका लाभ निजी कंपनियां तो उठा रही हैं पर सरकारी कार्यालय, निकाय और उपस्त्रम आज भी अंग्रेजीपरस्त संस्कृति के ही मुरीद हैं। हम न भूलें कि अंग्रेजों ने भारत पर केवल भौगोलिक विजय ही नहीं प्राप्त की, बौद्धिक विजय भी प्राप्त की। थॉमस बी मैकाले ने तो इसी दूरगामी रणनीति के तहत भारतीय विद्यालयों में अंग्रेजी भाषा की पढ़ाई शुरू करवाई ताकि भारत में शासन करनेवाली एक जमात तैयार की जा सके।

अंग्रेजों ने भारतभूमि पर कदम रखते ही यह व्यवस्था की कि यहां जो लोग अंग्रेजी सही समझने, लिखने और बोलनेवाले होंगे, उन्हें नौकरियों में प्राथमिकता दी जाएगी। यही कारण है कि अंग्रेजी का वर्चस्व न केवल अंग्रेजी राज में स्थापित हुआ बल्कि यह स्वतंत्रता के पश्चात उत्तरोत्तर कायम रहा। कैलाश वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'है कुछ दीखे और' में 'द ड्यूक ऑफ एरगिल' को लिखे एक पत्र का हवाला दिया है जिसमें कहा गया है कि 'भारत एक बार जीता जा चुका है, अब उसे फिर एक बार अवश्य जीतना है, यह दूसरी विजय शिक्षा के माध्यम से होगी।

हम सबके लिए भारत देवभूमि मातृभूमि है। मगर जो अंग्रेजी पढ़नेवाली या अंग्रेजी पढ़ी-लिखी पीढ़ी है, वह शायद इसे शत्रुभाव से देखती है।' अभी भी सारे भारतीय भाषाभाषी अपने बच्चों को अंग्रेजी में तो निष्णात बनाना चाहते हैं, हिंदी, संस्कृत या अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं क्योंकि न तो हिंदी में रोजगार हैं न भारतीय भाषाओं में । ऐसे में अंग्रेजी न जानने का हीनताबोध इस कदर हावी होता है कि एक कवि के शब्दों में हम सामने वाले को अंग्रेजी बोलते देख स्व यं को जैसे भाषाहीन समझने लगते हैं।

क्या विडंबना है कि हिंदी दिवस या मास आते ही हिंदी की पुजैती शुरु हो जाती है जो मासपर्यंत चलती है। पर इस पुजैती के पीछे भी एक संवैधानिक बाध्यता होती है। यह न होती तो शायद हिंदी के प्रति यह पूजा-इबादत वाला भाव भी न होता। हालांकि तब सरकारी कामकाज में न सही, आम बोलचाल की भाषा के रूप में तो हिंदी की उपयोगिता तब भी होती। आज जिस मुकाम पर हिंदी है, वह निश्चरय ही पहले से बेहतर स्थि ति में है। भाषाई प्रशिक्षण का काम कम से कम हिंदी भाषी क्षेत्रों में पूरा कर लिया गया है, पर अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी प्रशिक्षण का जैसा अभियान चलना चाहिए था, वैसा नहीं चल रहा है जबकि दक्षिण हिंदी भारत प्रचार सभा, हिंदी शिक्षण योजना आदि की कक्षाएं नियमित तौर पर लगायी जाती हैं। फिर भी, लोगों में हिंदी सीखने की ललक वैसी नहीं है जैसी अंग्रेजी सीखने की ।

बाजारवाद ने अंग्रेजी में कारोबार के नए नए अवसर ईजाद किए हैं। पर ऐसी संभावनाएं हिंदी व भारतीय भाषाओं में नहीं हैं। सवाल यह है कि हिंदी में तकनीकी सुविधाओं के उपलब्ध होने के बावजूद का उसका कितना लाभ उठाया जा रहा है। इसलिए सिफत इस बात में नहीं है कि हिंदी राजभाषा के पद पर विराजमान है बल्कि जरूरत है इसे कामकाज की भाषा बनाए जाने की, अन्यथा इस भाषा का वुजूद संविधान में बेशक रहेगा, इसकी अहमियत दिनों दिन खत्मी होती जाएगी। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 33

हिंदी में अनुवाद की समृद्ध परंपरा

■ **विष्णु नागर**
वरिष्ठ कवि एवं पत्रकार

संपर्क:34, नवभारत टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-91

हिंदी की छवि अपने समय के कुछ ताकतवर तथाकथित हिंदीसेवियों के कारण भले ही यह बनी हो कि हिंदीभाषी लोग आत्मकेंद्रित होते हैं, उनकी दिलचस्पी सिर्फ पूरे देश पर हिंदी थोपने के अलावा किसी में नहीं है,दूसरी भाषाओं का सम्मान करना वे नहीं जानते, मगर सच्चाई यह है कि हिंदी ने भारत की और विश्व की दूसरी भाषाओं में कम से कम जो कुछ भी सर्जनात्मक हुआ है और हो रहा है, उसे अपने में समेटने की पूरी कोशिश की है। उसने ज्ञान के तमाम क्षेत्रों में भी जो विश्वस्तर पर हुआ है, जो हो रहा है, उसे भी समेटने की काफी हद तक कोशिश की है, हालांकि हो सकता है,यह काम उतनी गंभीरता और विस्तार से नहीं हो पाया हो मगर इस तरह के प्रयत्नों की भी कोई कमी नहीं रही है। यह प्रयत्न केंद्र और राज्य सरकारो के माध्यम से जितना नहीं हुआ है, उससे अधिक निजी प्रयत्नों से हुआ है, व्यक्तियों और प्रकाशकों की निजी दिलचस्पी के कारण हुआ है।

सोवियत संघ अब नहीं रहा मगर उसने रूस के कम्युनिस्ट साहित्य के अलावा वहां का महान साहित्य हिंदी में लाने का जो प्रयत्न अपने समय में किया था और ऐसी पुस्तकों को अकल्पनीय रूप से सस्ते दामों में उपलब्ध करवाया था, वह अविस्मरणीय रहेगा। सोवियत संघ ढह गया लेकिन ये किताबें रहेंगी। जहां तक दूसरी भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषाओं से अनुवादों का सवाल है, हिंदी एक समृद्धतर भाषाओं में से एक है। यह दूसरी भाषाओं के साहित्य के प्रति खुली हुई भाषा रही है या कहें कि साहित्यिक अनुवादों के मामले में यह वाकई वैश्वीकरण को स्वीकार करनेवाली भाषा है। और आज से नहीं पिछली सदी के आरंभिक वर्षों से इस उदारता का सिलसिला शुरू होता है।

सोवियत संघ अब नहीं रहा मगर उसने रूस के कम्युनिस्ट साहित्य के अलावा वहां का महान साहित्य हिंदी में लाने का जो प्रयत्न अपने समय में किया था और ऐसी पुस्तकों को अकल्पनीय रूप से सस्ते दामों में उपलब्ध करवाया था, वह अविस्मरणीय रहेगा।

आज विश्व की अधिकांश भाषाओं के क्लासिक साहित्यिक ग्रंथ हिंदी में अनूदित रूप में मिल जाएंगे। तोल्सतोय, गोर्की, चेखव, दास्तोवस्की, चार्ल्स डिकेंस, विक्टर ह्यूगो, कामू, काफ्का, बर्तोल्त ब्रेख्त, एमिल जोला, लू शुन, हारवर्ड फास्ट, सरवांतीस, रसूल हमजातोव, गाब्रिएल गार्सिया मारकेज, नैदीन गार्डिमर जैसे अनेक महान गद्यकारों से लेकर अंतरराष्ट्रीय और भारतीय कवियों की पूरी बिरादरी है, जिसकी रचनाओं के फुटकर या पुस्तिकाकार या पुस्तक रूप में अनुवाद क रूप मे मिलेंगे बल्कि कविताओं के अनुवाद के मामले में स्थिति गद्य से भी बेहतर है।

यही स्थिति भारत की अन्य भाषाओं के रचनाकारों की भी है जिनमें से अनेक भारत भर में इसलिए पहचाने गए कि उनके अनुवाद हिंदी में उपलब्ध हैं। छात्र जीवन के एक बड़े हिस्से में मैं बांग्ला के अनेक लेखकों को हिंदी का लेखक ही मानता था। विमल मित्र, शंकर भले ही बांग्ला के बड़े लेखकों में न गिने जाते हों,उनकी रचनाएं हिंदी मे लोकप्रिय थीं। शरद्चंद्र को बहुत शुरूआत में ही किसने पाठक ने न पढ़ा होगा। महाश्वेता देवी भी लगभग हिंदी की लेखिका मानी जाती रहीं। वे इस बात को खुलेआम स्वीकार भी करती रही हैं औ उन्होंने स्वयं एक पत्रिका निकालकर हिंदी के लेखकों को बांग्ला में उपलब्ध करवाया।

अंतरराष्ट्रीय ख्याति के कवियों में वाल्ट व्हिटमैन, रूमी, वर्डस्वर्थ, विलियम ब्लैक, सिल्विया प्लाथ, पाब्लो नेरूदा, ब्रेख्त, अन्ना अख्मातोवा, ताद्यूश रोजेवस्की, नाजिम हिकमत, शीमस हीनी, मीवोश, मायकोव्स्की, विस्लाव शिंबोर्स्का, फर्नांदो पेसोआ, रैम्बो, पॉल एलुआर,

वोल शोयिंका आदि-आदि के अनुवाद हिंदी में उपलब्ध हैं। इसी तरह भारत की विभिन्न भाषाओं के पुराने और अर्वाचीन कथाकारों- कवियों के अनुवाद भी हिंदी में उपलब्ध हैं जिनमें रवींद्रनाथ टैगोर, शरदचंद्र, गुरुदयाल सिंह, महाश्वेता देवी, फकीर मोहन सेनापति, उमाशंकर जोशी, जीवनानंद दास, तकषि षिवशंकर पिल्लेई, गिरीश कर्नाड, यू. आर अनंतमूर्ति, दिलीप चित्रे, सुकांत भट्टाचार्य, सुभाष मुखोपाध्याय, कुर्रतुल एन हैदर, मंटो, राजेंद्र सिंह बेदी, कृश्न चंदर, दया पवार, नामदेव ढसाल, वी. के. गोकाक, विष्णु दे, काजी नजरुल इस्लाम, अरुण कोल्हटकर से लेकर हाल ही में पुरस्कृत भालचंद्र नेमाड़े शामिल हैं।

इस बारे में साहित्य अकादेमी और किसी हद तक नेशनल बुक ट्रस्ट का भी योगदान है। यह बताता है कि हिंदी के रचनात्मक जगत में कितना औदार्य है और इस औदार्य ने हिंदी के कवियों-लेखकों की दृष्टि को व्यापक और किसी तरह अखिल भारतीय बनाने मे मदद की है। अगर आज भी हिंदी का लेखक सांप्रदायिक-दक्षिणपंथी रुझान का शिकर नहीं हुआ है, लोगों से अपना जुड़ाव महसूस करता है तो इसका एक बड़ा कारण हिंदी के लेखकों की अपनी परंपरा के साथ अंतरराष्ट्रीय-राष्ट्रीय लेखकों से मिली यह दाय भी है। उन्होंने हिंदीतर भारतीय भाषाओं के लेखको द्वारा पेश चुनौतियों को भी समझा और अंतरराष्ट्रीय बिरादरी से आनेवाले लेखकों से प्राप्त चुनौती को भी। इसलिए अगर कुछ आलोचक-समीक्षक यह कहते पाए जाते है कि हिंदी ने विश्वस्तरीय साहित्य- विशेषकर कविता दी है- तो शायद वे गलत नहीं हैं।

हिंदी रचनात्मकता को अनुवादों के जरिये विस्तार देने में असंख्य हिंदी तथा हिंदीतर भाषी लेखकों- अनुवादको का हाथ रहा है, जिनमें से सबका स्मरण कर सकना भी यहां संभव नहीं है। इनमे महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, अमृतराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, भीष्म साहनी, मदनलाल मधु, हंसकुमार तिवारी, अज्ञेय, हरिवंश राय बच्चन, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, विष्णु खरे, प्रयाग शुक्ल, सोमदत्त, अशोक वाजपेयी, नरेंद्र जैन, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, असद जैदी, आनंद स्वरूप वर्मा, जितेंद्र भाटिया, चंद्रकांत पाटील, नीलाभ अश्क, असगर वजाहत, लीलाधर मंडलोई, यादवेंद्र, अब्दुल बिस्मिल्लाह, हेमचंद्र पांडेय, अनुराधा महेंद्र, सुरजीत, प्रकाश पंडित न जाने कितनों का बड़ा योगदान है।

आज विश्व की अधिकांश भाषाओं के क्लासिक साहित्यिक ग्रंथ हिंदी में अनूदित रूप में मिल जाएंगे। तोल्सतोय, गोर्की, चेखव, दास्तोवस्की, चार्ल्स डिकेंस, विक्टर ह्यूगो, कामू, काफ्का, बर्तोल्त ब्रेख्त, एमिल जोला, लू शुन, हारवर्ड फास्ट, सरवांतीस, रसूल हमजातोव, गाब्रिएल गार्सिया मारकेज, नैदीन गार्डिमर जैसे अनेक महान गद्यकारों से लेकर अंतरराष्ट्रीय और भारतीय कवियों की पूरी बिरादरी है, जिसकी रचनाओं के फुटकर या पुस्तिकाकार या पुस्तक रूप में अनुवाद क रूप मे मिलेंगे बल्कि कविताओं के अनुवाद के मामले में स्थिति गद्य से भी बेहतर है।

विश्व कविता को सामने लाने में अकेली 'तनाव' पत्रिका का जितना योगदान रहा है, वह अलग से उल्लेख की मांग करता है। संस्कृत के ज्ञात-अज्ञात नाटकों को सामने लाने का काम अकेले 'नाट्यम' पत्रिका के माध्यम से राधावल्लभ त्रिपाठी ने किया है, वह अविस्मरणीय है। उर्दू का तो हर महान और चर्चित शायर और कथाकार देवनागरी में उपलब्ध है और उनकी किताबें आज उर्दू से ज्यादा हिंदी में बिकती हैं। उर्दू शायरी आज जितनी बिकती है, उसके मुकाबले हिंदी कविता संग्रहों की बिफी बहुत कम है। जहां तक ज्ञान के अन्य क्षेत्रों का सवाल है, शैक्षिक जरूरतों के दायरे से बाहर भी बड़ी संख्या में विदेशी लेखकों की उम्दा पुस्तकें हिंदी में उपलब्ध हैं जिनमें इतिहास, समाजशास्त्र, शिक्षा का स्थान सर्वोपरि है। इस मामले में अकेले ग्रंथशिल्पी के श्याम बिहारी राय ने अकेलेदम पर पिछले दो दशकों से अधिक समय में बहुत काम किया है,जिसके अनुवादों की गुणवत्ता विश्वसनीय है। शिक्षा के मामले में कुछ मौलिक और बुनियादी पुस्तकें एकलव्य ने प्रकाशित की हैं।

साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट के साथ राजकमल प्रकाशन की भी साहित्य और साहित्येतर अनुवादों के प्रकाशन में महती भूमिका रही है। हरि

भटनागर ने अपनी पत्रिका रचना समय के माध्यम से दुनिया के कई बड़े लेखकों की रचनाएं उपलब्ध करवाई हैं। हिंदी की व्यावसायिक और गैरव्यवसायिक पत्रिकाओं न फुटकर और विशेषांकों के माध्यम से यह काम किया है,जिनमें 'हंस', 'कथादेश' आदि की प्रमुख भूमिका है। एक पूरा वातावरण बना है हिंदी मे अनुवादों को सामने लाने का। कई सरकारी प्रकाशनों की समय-समय पर निभाई गई भूमिका की भी याद आती है। बच्चों की किताबों के अनुवाद के प्रकाशन में नेशनल बुक ट्रस्ट, चिल्ड्रंस बुक ट्रस्ट के अलावा भारत ज्ञान विज्ञान समिति की भी बड़ी भूमिका है। आज यह बहुत हद तक सच है कि हिंदी के प्रति दूसरी भाषाओं ने भले ही अनुदारता दिखाई हो, हिंदी में लिखे महत्वपूर्ण साहित्य की अनदेखी की हो, उसमें प्रकाशित साहित्येतर ग्रंथों की अवहेलना की हो मगर इससे अप्रभावित रहकर हिंदी में दूसरी भाषाओं से अनुवादों का काम आज भी तेजी से जारी है और बड़े पैमाने पर यह काम बगैर संस्थानिक समर्थन के लोगों ने अपनी पहल पर किया है और कई मामलों में खुद ही प्रकाशन का दायित्व भी निबाहा है। और अनुवादों का यह विशाल भंडार किसी आत्महीनता के चलते हिंदी में उपलब्ध नहीं है बल्कि दुनिया में जो भी आज रचनात्मक हो रहा है, उससे सीखने-समझने के दृष्टिकोण को सामने रखकर हुआ है। इसका लाभ यह भी हुआ है कि हिंदी साहित्य भाषिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि कथ्य के नजरिए से भी समृद्ध है, उसमें विविधता है, एक किस्म से वैश्विक संवाद की उत्सुकता है।

हम महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक तरह से आधुनिक हिंदी का निर्माता और संपादक मानते हैं और उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'सरस्वती' अपने समय की समृद्धतम पत्रिका में थी, जिसकी चर्चा के बगैर हिंदी साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास पूरा नहीं होता। उन्होंने साहित्येतर रचना संपत्ति शास्त्र का अनुवाद हिंदी में किया था और सरस्वती में कई लेख ऐसे छपे हैं जो दरअसल उस समय के प्रसिद्ध लेखकों के अनुवाद या भावानुवाद हैं।

हम महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक तरह से आधुनिक हिंदी का निर्माता और संपादक मानते हैं और उनके द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'सरस्वती' अपने समय की समृद्धतम पत्रिका में थी, जिसकी चर्चा के बगैर हिंदी साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास पूरा नहीं होता। उन्होंने साहित्येतर रचना संपत्ति शास्त्र का अनुवाद हिंदी में किया था और सरस्वती में कई लेख ऐसे छपे हैं जो दरअसल उस समय के प्रसिद्ध लेखकों के अनुवाद या भावानुवाद हैं।

रामचंद्र शुक्ल जैसे हिंदी के बड़े आलोचक ने भी अपने समय में कई अनुवाद किए, जिसमें राखलदास बंद्योपाध्याय के दो बांग्ला उपन्यासों का अनुवाद ही नहीं किया है बल्कि मूल लेखक की कुछ कमियों की ओर इशारा करते हुए उन्होंने अपनी लंबी भूमिका लिखकर बताया है कि उन्होंने रचना की कुछ तथ्यगत गलतियों का भी सुधारा, हालांकि ऐसा करना कितना उचित है या नहीं है, यह एक अलग बहस का विषय है। हमारे ही नहीं सब समयों के बड़े कथाकार प्रेमचंद तक ने अनुवाद किए हैं।

भीष्म साहनी ने तो रूसी सीखकर लगभग सात वर्ष तक तत्कालीन सोवियत संघ में रहकर बतौर अनुवादक भी काम किया। बरेली कॉलेज के एक अध्यापक भोलेनाथ शर्मा का काम भी अनुवाद के क्षेत्र में उल्लेखनीय है जिन्होंने गोयथे के फाउस्ट और प्लेटो के रिपब्लिक का अनुवाद मूल भाषाओं से किया, हालांकि वे अज्ञात से रह गये। संस्कृत का लगभग सारा साहित्य हिंदी में उपलब्ध है जिसका श्रेय किसी एक को नहीं दिया जा सकता। लखनऊ के लगभग अज्ञात भुवनवाणी ट्रस्ट ने रामायण के विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध रूपों को प्रकाश में लाने का काम किया है।

आज इन तमाम प्रयासों का फल है कि हम दूसरी भारतीय और विदेशी भाषाओं कि ज्ञानात्मक ओर साहित्यिक गतिविधियों से बड़ी हद तक परिचित हैं। अत: हिंदी के इस अद्‌भुत योगदान को भूलना नहीं चाहिए। यह सही है कि सारे अनुवाद उत्कृष्ट नहीं हैं मगर उत्कृष्ट अनुवादों का प्रतिशत बड़ा है। विश्व कविता के कुछ अनुवादों के बारे में कई बार जरूर लगता है कि अनुवादक ने कविता को समझे बगैर उसका अनुवाद कर दिया है। बहरहाल अनुवाद के मामले में हिंदी की समृद्धि ध्यान देने योग्य है जिसकी तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 36

बाल साहित्य के अनुवाद के संदर्भ

■ दिविक रमेश
वरिष्ठ साहित्यकार

संपर्क: बी-295,
सेक्टर- 20,
नोएडा-201301

अनुवाद का मतलब एक भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा के शब्दों में रख देना मात्र नहीं होता। यहां आत्मा का अर्थात संस्कृति, पाठ आदि सब का अनुवाद करना होता है। और यह भी कि अनुवाद के माध्यम से एक भाषा मे लिखी रचना अन्य भाषा में पहुंचकर भी रचना ही लगनी चाहिए अर्थात दूसरी भाषा की प्रकृति के एकदम अनुकूल।

अनुवाद की बात करना प्राय: तब जायज माना जाता है जब मूल महत्त्वपूर्ण और समृद्ध हो। भारतीय भाषाओं की बात करें तो नि:संदेह बंगला और मराठी जैसी भाषाओं के समृद्ध और महत्त्वपूर्ण बाल-साहित्य की भांति आज हिंदी का बाल-साहित्य भी महत्त्वपूर्ण और समृद्ध है। इस नाते यदि हिंदी-बाल-साहित्य के संदर्भ में भी अनुवाद की दृष्टि से विचार किया जाए तो तर्कयुक्त ही कहा जाएगा। लेकिन बहुभाषी भारत के संदर्भ में तो मेरे विचार से सभी भाषाओं के बाल-साहित्य के एक दूसरे की भाषा में अनुवाद की आवश्यकता है। बावजूद इसके कि कई भाषाएं ऐसी भी हैं जिनसे या जिनमें हिंदी बाल-साहित्य का अनुवाद करना कोई आसान काम नहीं है मसलन र. शरिराजन के अनुसार शब्द, वाक्य-रचना, व्याकरण आदि की भिन्नता के कारण अनुवाद की दृष्टि से हिदी और तमिल में आदान-प्रदान सरल नहीं है। यह मत उन्होंने बहुत पहले मधुमती (1967) के बाल विशेषांक में प्रकट किया था। आज कमोबेश सभी भारतीय भाषाओं में बाल-साहित्य की भी प्रकाशित सामग्री उपलब्ध है।

यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश की एक बड़ी अनिवार्य जरूरत की तहत भावनात्मक एकता के स्वरूप की महत्तवपूर्ण जानकारी और उसके सच्चे संस्कार हमारे बच्चों में सहज और पुख्ता ढंग से घर कर लें तो नि:संदेह यह कार्य बाल-साहित्य के आदान-प्रदान से ही संभव हो सकता है। आज न बड़ों के और न ही बालकों के दायरे संकुचित रह गए हैं, ऐसी स्थिति अपेक्षित भी नहीं है। हम वैश्विक होने की होड़ में हैं। सूचनाओं और जानकारियों को भंडार हमारे सामने खुला पड़ा है। मूल्यों की कोई एक परिभाषा नहीं रह गई है। बिना सोचे-समझे अपनी-अपनी परिभाषाओं से चिपके रहना कोई अच्छी राह नहीं मानी जाती। हालांकि मूल्यविहीनता का मूल्य किसी को स्वीकार नहीं है- बच्चों की दुनिया में तो एकदम नहीं। लेकिन मूल्यों का आरोपण या उनका उपदेशीकरण भी आज बच्चों तक को ग्राह्य नहीं है। अत: बाल-साहित्य सृजन, आज के साहित्यकार के लिए एक बड़ी चुनौती भी है। अत: बालक के एक बार व्यापक परिवेश की सोच के बिना किसी भी भाषा का बाल-साहित्य संपूर्ण नहीं माना जाएगा। और इतने बड़े देश में, इतनी भाषाओं के बच्चों के संदर्भ में यह कार्य अनुवाद के माध्यम से बखूबी संभव हो सकता है।

अनुवाद हर भाषा को अपने-अपने क्षितिज व्यापक करने का अवसर प्रदान करता है। आदान-प्रदान हर हाल में भारतीय और वैश्विक बाल-साहित्य के विकास में मदद करता है। अगले पड़ावों के रूप में भारतीय बाल-साहित्य और वैश्विक बाल-साहित्य की प्रतिष्ठापना की जा सकती है। हम विश्व के बाल-साहित्य के परिदृश्य में दृढ़ पांव जमा सकते हैं। और ऐसा करके हम मानवीयता से भरपूर वैश्विक बालक और उसके साहित्य को प्राप्त कर सकते हैं। स्पष्ट है कि यही वह राह है जो हमें मानव और विश्व को बचाए रखने में कारगर ढंग से मदद कर सकती है।

इस संदर्भ में मैं अपनी पहले ही से बनी एक राय जरूर बांटना चाहूंगा कि विश्व तक जल्दी से जल्दी पहुंचने के लिए हिंदी को अन्य भारतीय भाषाओं का द्वार बनाना ज्यादा व्यावहारिक होगा। अर्थात सभी भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य का यदि हिंदी में अनुवाद उपलब्ध कराने की व्यवस्था कर ली जाए तो विदेशी भाषाओं के संदर्भ में केवल एक भारतीय भाषा 'हिंदी' के माध्यम से उन भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से पहुंचना बहुत सरल तो होगा ही, प्रमाणिक भी होगा क्योंकि हमारे देश का एक एक हिस्सा सांस्कृतिक दृष्टि से तो एक है ही। सच तो यह है कि जब तक स्रोत और लक्ष्य भाषाओं में सीधे-सीधे अनुवाद करनेवालों का अभाव है तब तक किन्हीं भी

दो भारतीय भाषाओं में भी बाल-साहित्य की सच्ची पहुंच के लिए 'हिंदी' का माध्यम सबसे ज्यादा उपयुक्त होगा न कि अंग्रेजी का। कम से कम 21 वीं सदी में तो हमें इस तथ्य को स्वीकार कर ही लेना चाहिए। आज इस बात की भी खासी जरूरत है कि हिंदी और भारतीय भाषाओं के बाल साहित्य को दोयम दर्जे का मानने वाले से सीधी टक्कर ली जाए।

यहां मैं बाल-साहित्य की पहचान से संबद्ध पहले ही से बना अपना यह मत भी बता दूं कि बाल-साहित्य के अंतर्गत मैं केवल रचनात्मक बाल-साहित्य अर्थात कालात्मक अनुभूति जन्य बाल-साहित्य को ही स्वीकार करता हूं न कि अध्ययन, शोध, जानकारी अथवा तथ्यजन्य बालोपयोगी बाल-साहित्य को। और जिसे मैं बाल-साहित्य के अंतर्गत मान रहा हूं उसी के अनुवाद का मसला कठिन और चुनौतिपूण है।

अनुवाद का मतलब एक भाषा के शब्दों को दूसरी भाषा के शब्दों में रख देना मात्र नहीं होता। यहां आत्मा का अर्थात संस्कृति, पाठ आदि सब का अनुवाद करना होता है। और यह भी कि अनुवाद के माध्यम से एक भाषा मे लिखी रचना अन्य भाषा में पहुंचकर भी रचना ही लगनी चाहिए अर्थात दूसरी भाषा की प्रकृति के एकदम अनुकूल। उदाहरण के लिए अनूदित कविता पहले कविता होनी चाहिए। यह अनुवादक की दोनों भाषाओं पर अधिकार मात्र से संभव नहीं होता बल्कि भाषाओं से जुड़े जीवन और संस्कृति आदि के गहरे अनुभवात्मक ज्ञान से ही अधिक संभव होता है।

पीताम्बर पब्लिशिंग कंपनी प्रा. लि. द्वारा प्रकाशित स्लोवाकिया की लोक-कथाओं के रस में पगी दिलचस्प कहानियों के अनुवाद की पुस्तक 'मंत्री का पुल' के सपादकीय में जयप्रकाश भारती का कहना है- 'डॉ. शारदा यादव ने कथाओं का ऐसा अनुवाद किया है कि अनुवाद नहीं लगता ।' सन् 2008 में साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित और प्रीति पंत द्वारा अनूदित 'उरुगुवाई बाल कहानियां'

पढ़ते समय मुझे भारती जी द्वारा बताए गए गुण के भरपूर दर्शन हुए। उदाहरण के लिए एक कहानी गंजा तोता का जिक्र कर सकता हूं । तोते का नाम है- पेद्रीतो। अनुवाद देखिए - 'पेद्रीतो उन बच्चों के साथ खूब समय बिताता था। वे उससे इतना कुछ कहते थे कि वह भी उनकी तरह बोलना भी सीख गया। वह कहता, मिट्ठू राम राम अहा मीठी मिर्ची ! पेद्रीतो का प्याला!' वह और भई बहुत कुछ कहता था, जो कि बताया नहीं जा सकता है, क्योंकि तोते भी बच्चों की ही तरह बुरी बातें आसानी से सीख जाते हैं। स्पष्ट है कि यहां अनुवाद करते समय अनुवादिका ने ध्यान रखा है कि हिंदी में अनूदित इन कहानियों के पाठक अधिकतर हिंदी के जानकार भारतवासी होंगे। अत: राम राम आदि वाली सुखद और जरूरी छूट ले ली है और कृत्रिम भाषा-परिवेश से अनुवाद को बचा लिया है।

21 वीं सदी को ध्यान में रख कर कहा जाए तो भारत की सहवर्ती भाषाओं में बाल-साहित्य के आदान-प्रदान की स्थिति बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। विधाओं की दृष्टि से देखा जाए तो ज्यादातर अनुवाद गद्य विधाओं में रची रचनाओं के हुए हैं और उनमें भी अधिकतर जोर लोककथाओं पर रहा है। विदेशी बाल-साहित्य के अनुवाद भी भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हैं पर वे भी संख्या की दृष्टि से आशाप्रद नहीं हैं। कठिनाई यह भी है कि अनुवाद को भी दोयम दर्जे का मानने वालों की कमी नहीं है।

डॉ. श्याम सिंह शशि की यह चिंता जायज ही है कि 'विदेशी भाषाओं के बाल साहित्य-लेखकों में चार्ल्स डिकिंस, मोपांसा, टॉलस्टाय आदि का कुछ बाल साहित्य हिंदी में अनूदित हुआ है किंतु तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि भारतीय भाषाओं के कई बाल उपन्यास का अनुवाद शायद ही हिंदी में हुआ हो। बांग्ला से हिंदी में कथा साहित्य का जितना अनुवाद हुआ है उसकी अपेक्षा एक-तिहाई भी शायद हिंदी से बांग्ला में नहीं हुआ। महेश नेवाणी ने सिंधी के साथ हिंदी में बाल कविताओं के हिंदी अनुवाद पुस्तक रूप में प्रकाशित किए हैं। पुस्तक खास स्कूली बच्चों के लिए है।

'दो शब्द' में महेश नेवाणी की चिंता

विचारणीय है- सिंधी जाति के लोगों पर से मेरा विश्वास डोल गया है। सिंधी भाषा में कविता करूं या नहीं इस पर फिर एक बार गौर करना पड़ेगा। फिर भी ऐसा तो कहा ही जा सकता कि इक्कीसवीं सदी के एक दशक में अनुवाद के क्षेत्र में भले ही आशा के अनुरूप या पहले की तुलना में संख्या की दृष्टि से थोड़ी कमी न आती हो लेकिन गुणवत्ता की दृष्टि से कोई कमी नहीं है। साहित्य अकादेमी को ही लें। साहित्य अकादेमी के प्रकाशन कार्यक्रम की नई योजनाओं में से एक योजना है- विभिन्न भाषाओं में बाल पुस्तकों का प्रकाशन। भारतीय भाषाओं में बाल कृतियों के अनुवादों के प्रकाशन से इस योजना का शुभारंभ किया गया। आकर्षक चित्रों के साथ ये कृतियां अकादेमी द्वारा 1990 से प्रकाशित की जा रही हैं। सोलह भारतीय भाषाओं की बाल कृतियों के सौ से अधिक अनुवाद तथा साथ ही गारो, बोडो, आदि भाषाओं में अनुवाद अब तक प्रकाशित किए जा चुके हैं।

इतिहास पर नजर मारी जाए तो पाएंगे कि 'हिंदी बाल-कहानियों का उदय भारतेंदु युग से माना जाता है। इस काल की अधिकांश कहानियां अनूदित हैं। इसके लिए वे संस्कृत की कहानियों के लिए आभारी हैं। सर्वप्रथम शिवप्रसाद सितारेहिंद ने कुछ मौलिक कहानियां लिखीं, इनमें 'राजा भोज का सपना' 'बच्चों का इनाम' तथा 'लड़कों की कहानी' का उल्लेख किया जा सकता है। आगे चलकर रामायण-महाभारत आदि पर आधारित अनेक कहानियां द्विवेदी युग में लिखी गईं। किंतु हिंदी बाल कहानी अपने स्वर्णिम अभ्युदय के लिए प्रेमचंद जी की ऋ णी है। उनकी अनेक कहानियों में बाल-मन का प्रथम निवेश हुआ और उसकी ज्वलंत झांकी अनेक कहानियों में मिलती है। बालमन के अनुरूप उनकी बहुत सी कहानियां जो कि बड़ों के लिए ही थीं, बच्चों ने उल्लास के साथ हृदयंगम की।' (हिंदी की श्रेष्ठ बाल कहानियां, उषा यादव एवं राजकिशोर सिंह, आत्माराम एंड सन्स, 2001)। बताना चाहूंगा कि प्रेमचंद जी ने हिंदी में पहला बाल उपन्यास लिखा था- एक कुत्ते की कहानी और बालकों के लिए लिखी गईं उनकी कहानियां 'जंगल की कहानियां' शीर्षक से प्रकाशित हुई हैं। खैर, विडंबना ही है कि कविताओं या कविता-पुस्तकों के अनुवाद अपवाद स्वरूप ही देखने को मिलते हैं। रमेश कौशिक ने रूसी बाल कविताओं के अच्छे अनुवाद किए हैं। दिविक रमेश द्वारा चयनित और अनूदित तथा नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित कोरियाई कविताओं की पुस्तक 'कोरियाई बाल कविताएं' (2001) बच्चों में बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। हाल ही में एक पुस्तक वाणी ने प्रकाशित की है- 'जब लुटेरे इलायचीपुर आए'। यह नार्वे के प्रतिष्ठित लेखक थूरब्योर्न की बाल पुस्तक है जो क्लासिक मानी जाती है। इसमें गद्य भी है और कविता भी। कविताओं के अनुवाद बहुत ही खूबसूरत हैं। मेरी कुछ बाल कविताओं के अनुवाद ओड़िया, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाओं में हुए हैं लेकिन हैं वे अपवाद स्वरूप ही।

विधाओं की दृष्टि से देखा जाए तो ज्यादातर अनुवाद गद्य विधाओं में रची रचनाओं के हुए हैं और उनमें भी अधिकतर जोर लोककथाओं पर रहा है। विदेशी बाल-साहित्य के अनुवाद भी भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हैं पर वे भी संख्या की दृष्टि से आशाप्रद नहीं हैं। कठिनाई यह भी है कि अनुवाद को भी दोयम दर्जे का मानने वालों की कमी नहीं है।

यदि बालक सृष्टि की सबसे मूल्यवान रचना है तो बाल-साहित्य का महत्व भी कम नहीं है। भारत के संदर्भ में भारतीय और विश्व के संदर्भ में वैश्विक बालक और बालक की कल्पना बिना अनुवाद के करना आज लगभग असंभव है। इसीलिए भारत में बच्चों की एक अलग केंद्रीय अकादमी आज की बड़ी जरूरत है जिसकी एक महत्वपूर्ण गतिविधि अनुवाद कर्म होना चाहिए। जो संस्थाएं अपने सीमित साधनों के द्वारा इस दिशा में कुछ काम कर रही हैं उन्हें बढ़ावा मिलना चाहिए। फिर उतना ही ध्यान अनुवाद पर देना होगा। एक ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिसकी तहत किसी भाषा में लिखी गईं श्रेष्ठ बाल पुस्तकों की सूची उपलब्ध हो और साथ ही अच्छे अनुवादकों की सूची भी ताकि अनुवाद कार्य को सुगम बनाया जा सके।

इस सदी की हिंदी में अनूदित कुछ पुस्तकों की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा, वे हैं- सुकुमार राय की चुनिंदा कहानियां (अनुवादक: अमर गोस्वामी, साहित्य अकादेमी, 2002), जापान की कथाएं (साहित्य अकादेमी, 2001), जादुई बांसुरी और अन्य कोरियाई कथाएं (अनुवादक: दिविक रमेश, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2009), कोरियाई लोककथाएं (अनुवादक: दिविक रमेश पीताम्बर पब्लिशिंग कंपनी, 2000) एक प्रकाशन है-तूलिका। इसने इसी सदी में द्विभाषी अर्थात अंग्रजी और हिंदी में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं। असल में यह पुस्तक-श्रृंखला है।

प्रकाशक के अनुसार इन पुस्तकों से बच्चों की शब्द-कल्पना-शक्ति बनेगी- द्विभाषी पुस्तकों की यह श्रृंखला, कहानी सुनाने के माहौल में तस्वीरों की मदद से बच्चों की शब्द अनुमान शक्ति और शब्द भंडार बढ़ाने में मदद करती है। एक खबर के अनुसार- 'बच्चों के लिए काम करनेवाली गैर

सरकारी और गैर व्यावसायिक संस्था 'कथा' ने बच्चों के लिए हिंदी भाषा में तीन पुस्तकें तैयार की हैं। तीनों पुस्तकें अन्य भाषाओं से हिंदी में अनूदित हैं। अनुवाद में हिंदी की आत्मा कितनी उतर पाई है या फिर कथाओं के तार स्थानीयता और बाल सुलभ भावनाओं के साथ कितना जुड़ पाते हैं?

शायद ये अलग मुद्दे होकर भी वैश्विक युग में ज्यादा मायने नहीं रखते, लेकिन बच्चे पुस्तक को देखने के बाद उसे हाथ में लेते हैं, उसके पृष्ठों को पलटते हैं और पुस्तकों के चित्रों में रम जाते हैं। इन पुस्तकों की यही ताकत है और बच्चों की पुस्तकों में यह ताकत होनी भी चाहिए। बच्चे चित्रों के जरिए शब्दों की पहचान कर लेते हैं और पृष्ठों को पलटते जाते हैं। पुस्तकों के निर्माण में संसाधनों की सुलभता का स्पष्ट दर्शन होता है, साथ ही उस सुरुचि का भी, जिसके बगैर इस दर्जे का काम कर पाना असंभव है। लेकिन इसके साथ ही पुस्तकों की कीमतें भी अधिक हैं। 'सूई की नोक पर था एक' गीता धर्मराजन द्वारा रचित अंग्रेजी भाषा की पुस्तक 'ऑन द टिप ऑफ ए पिन वाज' को विवेक नित्यानंद और मोयना मजुमदार ने हिंदी में रूपांतरित किया है।

इसी तरह बियाट्रिस आलेमान्या द्वारा फ्रेंच भाषा में लिखी पुस्तक 'ए लॉयन इन पेरिस' को हिंदी में अनुदित किया है मोयना मजुमदार ने। इस पुस्तक की कथा पेरिस के प्रसिद्ध दोंफेर-रोशेरो चौराहे पर स्थापित शेर से प्रेरित है। यह पुस्तक अनोखी है। कथा की तीसरी पुस्तक है 'उल्टा-पुल्टा'।

जर्मन भाषा की लेखिका ऑत्ये दाम्म की बच्चों के लिए लिखी गई पुस्तक 'फ्लिडोलिन' का हिंदी अनुवाद है। अनुवाद मोयना मजुमदार ने किया है। यह कहानी चमगादड़ों के माध्यम से बच्चों में कुतूहल और सूझ-बूझ पैदा करती है। बहरहाल, इस सुरुचिपूर्ण कार्य के लिए 'कथा' और उसके साथ जुड़े लोग साधुवाद के पात्र हैं। किताबघर प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, आलेख प्रकाशन और आत्माराम एंड संस जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशक हैं जिनका बाल साहित्य में भी अच्छा खासा हस्तक्षेप है। आशा की जा सकती है कि ये अनुवाद के क्षेत्र में भी, खासकर बाल कविता के अनुवाद के क्षेत्र में अधिक से अधिक कृतियां लाएंगे। किताबघर द्वारा प्रकाशित 'बाल मनोवैज्ञानिक लघुकाथाएं'(सं.: रामेश्वर काम्बोज 'हिमांशु') पढ़ते हुए पंजाबी लघुकथाओं का आनंद लिया जा सकता है जिसका जिसका हिंदी में शीर्षक है- 'बदला', और इसके लेखक-अनुवादक डॉ श्यामसुंदर दीप्ति हैं।

इतिहास पर नजर मारी जाए तो पाएंगे कि 'हिंदी बाल-कहानियों का उदय भारतेंदु युग से माना जाता है। इस काल की अधिकांश कहानियां अनूदित हैं। इसके लिए वे संस्कृत की कहानियों के लिए आभारी हैं। सर्वप्रथम शिवप्रसाद सितारेहिंद ने कुछ मौलिक कहानियां लिखीं, इनमें 'राजा भोज का सपना' 'बच्चों का इनाम' तथा 'लड़कों की कहानी' का उल्लेख किया जा सकता है।

'देख! तू हर बात पर जिद मत किया कर। जो काम करने का होता है, वह तू करती नहीं।' उमा ने रचना को झिड़कते हुए कहा।'

'करती तो हूं सारा काम। सब्जी बनाने के लिए टमाटर नहीं ला के दिए थे ! आपके साथ कप भी तो धुलवाए थे।' रचना ने मम्मी को दलील दी।यही काम तो नहीं करने होते। पढ़ भी लिया कर।' उमा को और गुस्सा आ गया।'

'कर तो लिया स्कूल का काम।' रचना ने अपना स्पष्टीकरण दिया।

'अच्छा! ज्यादा बातें मत कर और एक तरफ होकर बैठ।' रचना सिलाई-मशीन के कपड़े को पकड़ने लगी। उमा को गुस्सा आ गया और उसने थप्पड़ जमा दिया।

'अब अगर जो हाथ आ जाता मशीन में!'

रचना रोने लगी।

'अब रोना आ गया, चुप कर, नहीं तो और लगेगी एक। अच्छी बातें नहीं सीखनी, कोई कहना नहीं मानना।'

थोड़ी देर में दरवाजा खटका। उमा ने रचना से कहा, 'अच्छा! जाकर देख, कौन है बाहर?'

पहले तो वह बैठी रही और गुस्से से मम्मी की तरफ देखती रही, पर फिर दुबारा कहने पर उठी और दरवाजा खोला। रचना के पापा का कोई दोस्त था।

रचना दरवाजा खोलकर लौट आई।

'कौन था?' रमा ने पूछा।

'अंकल थे।' रचना ने रूखा-सा जवाब दिया और साथ ही बोली, 'मैंने अंकल को नमस्ते भी नहीं की।'

0 0 0 0 0

और कोरियाई बाल कविताएं के सुविख्यात कवि यून सॉक जूंग की एक बाल कविता भी :

'दुनिया का मानचित्र
घर का काम मिला है मुझको
नक्शे में दुनिया दिखलाऊं
रात बैठ कर मेहनत की पर
रहा अधूरा क्या बतलाऊं

देश न हो जो तेरा मेरा
राष्ट्र न हो जो मेरा तेरा
हो बस दुनिया देश बड़ा सा
तब होगा आसान बनाना
नक्शे में दुनिया बतलाना
(प्यारी सी दुनिया दिखलाना)। ■

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 40

भाषाएं किसी शून्य में जिंदा नहीं रहतीं

■ क्षमा शर्मा
वरिष्ठ पत्रकार एवं कथाकार

संपर्क: 17 बी-1, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-91

कुछ साल पहले 'स्टेट्समैन' में एक लेख छपा था, जिसका शीर्षक था-'ब्रिटिशर्स आर हैविंग द लास्ट लाफ'। लेख में बताया गया था कि बेशक अंग्रेज यहां से चले गए हों, मगर वे अपनी ऐसी विरासत छोड़ गए हैं कि वे यहां से जाकर भी हमेशा के लिए यहां विराजमान हो गए हैं। वह विराजमान हैं अपनी भाषा के जरिए, अपनी संस्कृति के जरिए। आज उन्हें अपना देश छोड़कर यहां आने की जरूरत नहीं है। आज उन्होंने हमारे मन में यह बात कूट-कूटकर भर दी है कि उनकी भाषा श्रेष्ठ है। उनका रहन-सहन श्रेष्ठ है। किसी भी देश पर कब्जा करने के लिए आज भूमि से ज्यादा संस्कृति और मन मस्तिष्क पर कब्जा जरूरी है। इस कब्जे के लिए पहले दूसरे को यह बताना होता है कि तू किस तरह से हीन है। कमजोर है। इस हीनता को छोड़कर ताकतवर की तरफ आ।

लेख में गांव-गांव में खुले पब्लिक स्कूलों के चित्र छापे गए थे। जिन पर लिखा था इंग्लिश मीडियम पब्लिक स्कूल। साथ ही घर-घर, शहर-शहर खुलते ऐसे कोर्सेज की भरमार का जिक्र किया गया था, जो आपको अंग्रेजी में बोलने और लिखना सिखाने का दावा करते रहते हैं। अंग्रेजी आने का मतलब पलक झपकते ही हमारी हर इच्छा का पूरा हो जाना। अंग्रेजी मायने ग्लोबल लैंग्वेज, दुनिया से जुड़ने की एक आसान-सी चाबी। यह भी कि अंग्रेजी के सामने हमारी सभी मातृभाषाएं बौनी हैं। छोटी हैं। उनमें पढ़-लिखकर बड़ा नहीं बना जा सकता, रसूख नहीं कमाया जा सकता। विदेश नहीं जाया जा सकता। विदेश जाने के लिए जी-मैट या जी-टाफेल पास करने पड़ते हैं मगर भारत में आने के लिए किसी भाषा को जानना, उसका इम्तिहान देना जरूरी नहीं है।

दरअसल जिन लोगों ने हम पर शासन किया, बेशक हमने उन्हें भगा दिया लेकिन आज भी उन्हीं की हर चीज हमें ताकतवर लगती है। शासक प्रजा के मन में यही भाव बिठाते हैं कि उनसे जुड़ी हर चीज हर बात प्रजा को आंख मूंदकर अपना लेनी चाहिए। जैसे कि हिंदी या किसी मातृभाषा के मुकाबले अंग्रेजी। सांवले रंग के मुकाबले गोरा रंग। जबकि वैज्ञानिक रूप से इन बातों की श्रेष्ठता कभी साबित नहीं की जा सकती। न ही इनके मुकाबले दूसरी बातों की हीनता।

एक तरफ कहा जाता है कि तकनीक कभी किसी भाषा को मरने नहीं देगी। मगर भाषाएं किसी शून्य में जिंदा नहीं रहती हैं। वे जिंदा रहती हैं अपने बोलने-बरतने वालों के कारण। संस्कृत के खत्म हो जाने का एक बड़ा कारण यही तो है कि वह बरताव में नहीं रही। दुनिया की हजारों भाषाओं के साथ ऐसा हो चुका है। और आज जब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हर तरह से यह साबित किया जा रहा है कि अगर आप अंग्रेजी नहीं जानते तो न तो आप कहीं अच्छी नौकरी पा सकते हैं, न ही आपको समाज में कोई अच्छी नजर से देखेगा। तब मातृभाषाओं के बारे में दिए जाते इस पुराने तर्क पर विश्वास करने को मन नहीं करता है।

अफसोस की बात यह है कि खुद हिंदीभाषी लोगों ने यह बात अपने मन में बिठा रखी है कि हिंदी बोलते ही वे पिछड़े हुए और साधनहीन कहलाते हैं। इसीलिए आजकल अक्सर मध्यवर्ग के माता-पिता हिंदी के मुकाबले अपने बच्चों से अंग्रेजी में बात करना ज्यादा पसंद करते हैं।

अफसोस की बात यह है कि खुद हिंदीभाषी लोगों ने यह बात अपने मन में बिठा रखी है कि हिंदी बोलते ही वे पिछड़े हुए और साधनहीन कहलाते हैं। इसीलिए आजकल अक्सर मध्यवर्ग के माता-पिता हिंदी के मुकाबले अपने बच्चों से अंग्रेजी में बात करना ज्यादा पसंद करते हैं। वे बच्चे को चम्मच को स्पून और सेब को एपल कहना ही सिखाते हैं।

कभी आपने अगर गौर किया हो तो दो बांग्लाभाषी अगर मिलें तो वे चाहे जितने बड़े पद पर काम करते हों वे फौरन बांग्ला में बात करना

शुरू कर देते हैं। अन्य भारतीय भाषाओं की भी यही स्थति है, मगर अगर उच्च पदों पर काम करने वाले दो हिंदी वाले मिलते हैं तो वे अक्सर अंग्रेजी में बात करते हैं। वे बहुत गौरव पूर्वक यह भी कहते पाए जाते हैं कि यू नो माई हिंदी इज नाट दैट गुड। इनके लिए अपनी भाषा को जानना नहीं, न जानना गौरव की बात है। यहां दो उदाहरण देना चाहूंगी।

एक बार मेरी एक सहेली दफ्तर में मिलने आई। वह अमेरिका में रहती है। वह कलकत्ता की रहने वाली है मगर दिल्ली में रही है। हम बातें कर रहे थे कि तभी थोड़ी देर में दफ्तर में काम करने वाली एक लड़की आई। संयोग से वह भी बांग्लाभाषी थी। मैंने दोनों का परिचय कराया। परिचय की देर थी कि दोनों बांग्ला में शुरू हो गईं। वे यह भी भूल गईं कि मैं भी वहां हूं और मुझे उनकी कोई बात समझ में नहीं आ रही है। वे बातें करती जातीं और खिलखिलाती जातीं। दोनों को हिंदीभाषियों की तरह नहीं लगा कि अपनी भाषा बोलने से वे अपनी ही नजरों में छोटी हो गई हैं और कि सुनने वाले क्या समझेंगे या कि उन्हें अपनी भाषा बोलने के कारण गंवार और अनपढ़ मान लिया जाएगा।

दूसरा उदाहरण है पांडिचेरी का। कई साल पहले मैं युनिसेफ के सम्मेलन में भाग लेने के लिए पांडिचेरी गई थी। यह सम्मेलन पांडिचेरी सरकार, डब्ल्यूएचओ और युनिसेफ की तरफ से था। इसमें बड़े-बड़े डॉक्टर, मंत्री और चिकित्सा विज्ञानी आए थे। अब हुआ यह कि सम्मेलन की कार्यवाही शरू हुई। लोग अंग्रेजी में बोल रहे थे। और एक वरिष्ठ डॉक्टर तमिल में उसका अनुवाद कर रहे थे। धीरे-धीरे हुआ यह कि लोग अंग्रेजी में बोलना छोड़ तमिल में ही बोलने लगे। और पूरी गोष्ठी की समाप्ति तक तमिल ही चलती रही। क्या आपने दिल्ली या किसी हिंदी प्रदेश में सरकार तथा इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की सभा को देखा है, जहां बात शुरू तो अंग्रेजी में हुई हो मगर खत्म हिंदी में। और बड़े से बड़े लोग हिंदी में बोलने लगें। यह हिंदी वालों की संकीर्णता ही है जो वे अपनी भाषा को हमेशा दूसरों से निम्नतर मानते हैं।

बल्कि अकसर देखा गया है कि अन्य भाषा भाषी कभी अपनी भाषा अपनी संस्कृति में खोट निकालकर गौरव का अनुभव नहीं करते। बल्कि अगर आप गलती से भी उनके सामने ऐसा कर दें तो लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं जबकि हिंदी वाले इसमें अपनी बहुत अच्छाई समझते हैं।

सच्चाई तो यह है कि खुद हिंदीवालों ने इस भाषा की जितनी दुर्दशा की है किसी और ने नहीं की। जब आप खुद ही अपनी भाषा को उसके संस्कार को दो कौड़ी का मानेंगे, हिंदी को पिछड़ेपन का प्रतीक कहेंगे, अति क्रांतिकारी होने के चक्कर में उसे हर तरह की सांप्रदायिकता से जोड़ेंगे तो भला ऐसी भाषा को कौन बचाना चाहेगा। कौन जुड़ना चाहेगा। बहुसंख्यकों की भाषा को दरअसल बहुसंख्यक वाद से जोड़ दिया गया है। यह भी कैसी निरंकुश सोच है कि

PUSTAK VARTA May-August 1-43:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 4:15 PM Page 42

अगर किसी भाषा को बोलने वाले ज्यादा हैं तो वे दूसरी भाषाओं को दबा कर रखेंगे, उन्हें बढ़ने नहीं देंगे। वोट की राजनीति करने वालों ने अपने स्वार्थ के चलते भाषाओं को भी विस्तारवाद, सांप्रदायिकता और साम्राज्यवाद से जोड़ दिया है। देश में पचपन करोड़ लोग हिंदी बोलते हैं लेकिन उन्हीं की भाषा को शासक वर्गों से लेकर मीडिया तक किसी को कोई परवाह नहीं।

सारी नीतियां अंग्रेजी में तय होती हैं। माना यह जाता है कि अंग्रेजी वालों के पास हिंदीवालों और मातृभाषाओं वालों से अधिक श्रेष्ठ उर्वर और प्रगतिशील दिमाग होता है। अखबारों में कई स्वनामधन्य संपादकों ने तो यह फरमान तक जारी कर दिया था कि संपादकीय पेज पर सिर्फ अंग्रेजी वाले ही लिखेंगे। वे ही हैं जो कुछ नई बात कह पाते हैं। हिंदी के लोग तो बस उनकी नकल भर करते हैं।

एक तरफ कहा जा रहा है कि हिंदी बढ़ रही है। हिंदी के चैनल्स बढ़े हैं। अखबारों के संस्करण बहुतायत में निकल रहे हैं। आज एमएनसी वाले हिंदी सीखना चाहते हैं। विज्ञापन दाता हिंदी में अपने विज्ञापन बनवाते हैं। हिंदी फिल्में पूरे देश ही क्या दुनिया में देखी जाती हैं। मगर इनके सितारे जो हिंदी से अपनी पहचान बनाते हैं हिंदी बोलने में काफी शर्म महसूस करते हैं। महेश भट्ट ने एक इंटरव्यू में कहा ही था कि उनके बच्चे अपने नौकरों और ड्राइवरों से हिंदी बोलते हैं। जैसे कि नौकर और ड्राइवरों की भाषा एक ऐसी कमजोर भाषा होती है जिसे महेश भट्ट जैसे एलीट नहीं बोल सकते। इस बात में गरीब तबके के लिए कितनी नफरत भी छिपी हुई थी। जो अखबार आज हिंदी के जरिए चांदी बटोर रहे हैं और जो विज्ञापन दाता हिंदी में विज्ञापन देकर, अपने उत्पाद को पचपन करोड़ लोगों तक पहुंचा रहे हैं, दरअसल उन्हें हिंदी की चिंता नहीं है। वे तो हिंदी वाले की जेब में हाथ डालकर मलाई काट रहे हैं। कोशिश यही तो है कि हिंदी में अपनी बात कहकर, लोगों में अपना उत्पाद लोकप्रिय कर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाया जाए। उनका सारा काम अंग्रेजी में होता है। हिंदी गरीब-गुरबों मजदूर वर्ग और सेवकों की भाषा है। वह आज के नए राजाओं की भाषा कैसे हो सकती है। राजा और रंक भाषा और उनकी अभिव्यक्ति तथा जरूरतों में हमेशा एक लंबा-चौड़ा फासला होता है। और अफसोस लोकतंत्र की तमाम दुहाई देने के बावजूद यह अंतर लगातार बढ़ता गया है। इन्हें देखकर अगर एक आम आदमी यह सोचता है कि अंग्रेजी अमीर और ताकतवर की भाषा है, उससे ताकत मिलती है, नौकरी मिलती है, आप पढ़े-लिखे वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं तो आखिर उसकी क्या गलती है। दलितों द्वारा अंग्रेजी माई का मंदिर बनाना इसी सोच का प्रतीक है। जो कि गलत नहीं है। अगर आप एक भाषा को ताकत का पर्याय बना देंगे, तो लोग उसी की तरफ भागेंगे।

भाषाएं किसी शून्य में जिंदा नहीं रहती हैं। वे जिंदा रहती हैं अपने बोलने-बरतने वालों के कारण। अफसोस की बात यह है कि खुद हिंदीभाषी लोगों ने यह बात अपने मन में बिठा रखी है कि हिंदी बोलते ही वे पिछड़े हुए और साधनहीन कहलाते हैं। इसीलिए आजकल अक्सर मध्यवर्ग के माता-पिता हिंदी के मुकाबले अपने बच्चों से अंग्रेजी में बात करना ज्यादा पसंद करते हैं।

एक और बात यह है कि खुद हिंदी वालों ने अपने को दीन-हीन और दरिद्र बना भी रखा है। कई साल पहले यह लेखिका एक 'स्टोरी टैलिंग सैशन' में दक्षिण दिल्ली के एक बहुत नामी महिला कॉलेज में गई थी। वहां अन्य लड़कियों के मुकाबले हिंदी वाली लड़कियों को देखकर वह दंग रह गई। अन्य लड़कियों के मुकाबले ये लड़कियां एकदम मैली, कुचैली शरमाती हुई, बोलने में लजाती, घबराती, डरती जैसे कि कोई पाप करने जा रही हों। इन्हें देखकर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि आज हिंदी की स्थिति क्या है।

हिंदी कौन पढ़ने आता है। एक तो वह जिसके नंबर इतने कम हैं कि उसे कहीं एडमिशन न मिल रहा हो। अच्छे नंबर वाले बच्चे अक्सर हिंदी की तरफ नहीं आते। दूसरे वे जिनके पास इस विषय को पढ़ने के अलावा कोई और रास्ता नहीं है। लोग कहते हैं कि हिंदी गरीबों के अलावा वे लड़कियां ज्यादा पढ़ने आती हैं, जिनकी जल्दी ही शादी होने वाली होती है। जब तक शादी हो तब तक पढ़ना है, इसलिए हिंदी ही पढ़ ली जाए। तमिलनाडु जहां डीएमके तथा अन्य राजनीतिक दलों का हिंदी विरोध इस हद तक है कि वहां के एक कलेक्टर ने मैसूर के मंदिरों को देखने के लिए आने वालों के लिए हिंदी में मार्गों के नाम लिखवाने की कोशिश की थी तो हल्ला मच गया था कि तमिलनाडु में हिंदी को लादने की कोशिश की जा रही है।

अपनी एक यात्रा के दौरान इस लेखिका ने भी देखा था कि गांव-मोहल्लों आदि के नाम वहां जहां भी लिखे हैं, वे

तमिल और अंग्रेजी में तो हैं, मगर जहां भी हिंदी का प्रयोग किया गया है, उन पर कालिख पोत दी गई है। दूसरी तरफ इसी तमिलनाडु में बच्चे हिंदी सीखना चाहते हैं। वहां हिंदी अध्यापक की नौकरी आसानी से मिल जाती है, क्योंकि उन लोगों को लगता है कि नौकरी की तलाश करने के लिए अगर हिंदीभाषी प्रदेशों में जाना है तो हिंदी सीखना जरूरी है। यही नहीं एक दिलचस्प उदाहरण बंगाल का भी है।

1981 की बात है। बंगाल जाना हुआ था। तब एक मित्र ने अपने घर बुलाया था। मित्र दिल्ली तथा भारत में अन्य जगहों पर रहा था, तो वह कामचलाऊ हिंदी जानता था। मगर उस घर की महिलाएं जिनमें मित्र की मां और उसकी तीन बहनें थीं, हिंदी बिल्कुल नहीं जानती थीं। तब उनसे बातचीत में मित्र ही सहारा बना था। वह बांग्ला में उनकी कही बात हमें हिंदी में और हमारी बात उन्हें बांग्ला में बताता था। लेकिन पच्चीस साल बाद जब दोबारा मैं उन्हीं लोगों से मिली तो वे महिलाएं न केवल हिंदी समझ रही थीं बल्कि बोल भी ही थीं। यह संभव किया 1980 के बाद फैले टीवी के संजाल ने। हिंदी फिल्मों को भी हिंदी सिखाने वाला माना जाता है। टीवी पर आनेवाले कार्यक्रमों को देख-देखकर लोग हिंदी सीख रहे थे। इस लेखिका की कहानियों पर हैदराबाद की एक लड़की पावनी ने एम. फिल करते हुए काम किया था। जब वह मिलने आई तो उसने बताया कि उसे हिंदी सीखने के लिए उसकी दादी ने प्रेरित किया था। दादी को टीवी पर आनेवाला 'महाभारत' सीरियल बहुत पसंद आता था। लेकिन तेलुगुभाषी होने के कारण वह समझ नहीं पाती थी। तब दादी ने इस लड़की से कहा कि वह हिंदी सीखे। लड़की के पिता इसके विरोध में थे। तब दादी अपने हिस्से का अनाज बेचकर फीस के पैसे जुटाती थी। इस तरह पावनी ने हिंदी सीखी और उच्च शिक्षा पाई।

सारी नीतियां अंग्रेजी में तय होती हैं। माना यह जाता है कि अंग्रेजी वालों के पास हिंदीवालों और मातृभाषाओं वालों से अधिक श्रेष्ठ उर्वर और प्रगतिशील दिमाग होता है। अखबारों में कई स्वनामधन्य संपादकों ने तो यह फरमान तक जारी कर दिया था कि संपादकीय पेज पर सिर्फ अंग्रेजी वाले ही लिखेंगे। वे ही हैं जो कुछ नई बात कह पाते हैं। हिंदी के लोग तो बस उनकी नकल भर करते हैं।

एक तरफ हमारा देश है जहां अंग्रेजी ही अंग्रेजी है तो दूसरी तरफ ऐसे देश भी हैं जो अंग्रेजी को बिल्कुल महत्व नहीं देते। कोई माने या न माने विदेशों में भारतीय होने की एक पहचान हिंदी भी है। विदेशी एयरलाइंस अपने एनाउंसमेंट हिंदी में ही करती हैं। यह लेखिका अक्सर यूरोप जाती रहती है। इसने फ्रांस और स्विट्जरलैंड में देखा है कि लोग आपको अपने पहनावे और भाषा से हिंदुस्तानी समझकर हिंदी का प्रयोग करने की कोशिश करते हैं। जिनेवा एयरपोर्ट पर इमिग्रेशन अधिकारी ने सारे कागजात जांचने के बाद मुस्कुराते हुए हाथ जोड़कर नमस्ते किया था। यही नहीं एक एयरपोर्ट पर मनीचेंजर के पास जाकर जब अंग्रेजी में कुछ पूछने की कोशिश की थी तो उसने बिना ऊपर देखे ही कहा था- नो इंग्लिश। वहां अंग्रेजी को अनपढ़ों की भाषा माना जाता है। वे ब्रिटेन के लोगों का जरा भी रुतबा नहीं खाते।

स्विट्जरलैंड में यूरोप की सबसे ऊंची चोटी युंग फ्रो है। जब यह लेखिका वहां पहुंची तो यह देखकर हैरान रह गई कि रेस्टोरेंट में एक तरफ दो जगह हिंदी में लिखा था-चिकन सैंडविच और वेजीटेबल सैंडविच। इससे पता चलता है कि वहां घूमने के लिए भारतीय और हिंदीभाषी लोग ज्यादा जाते हैं। वे हिंदी समझते हैं। उनकी जरूरत के खाने के सामान का नाम इसीलिए हिंदी में लिखा था। साथ ही बहुत से भारतीय वेजीटेरियन होते हैं इसलिए वहां विशेष रूप से वेजीटेबल सैंडविच का प्रबंध था। जबकि यूरोप में वेजीटेरियन होने का मतलब लोग ठीक से नहीं समझ पाते।

कई बार लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि हिंदी की उम्र इस देश में सिर्फ बीस साल हो। क्योंकि तब तक उन माता-पिता की पीढ़ी खत्म हो जाएगी जो हिंदी समझते बोलते हैं। आज के अंग्रेजी पढ़े-समझे बच्चे माता-पिता होंगे। कुछ दिन पहले एक साथी ने अपने बच्चे के जन्मदिन पर रिटर्न गिफ्ट के रूप में पुस्तकें दी थीं। पहले तो बच्चों को किताबों का उपहार ही पसंद नहीं आया।

दूसरी बात यह कि जिन्हें अंग्रेजी के बजाए हिंदी की पुस्तकें उपहार में मिली थीं, वे तो उन्हें लेना ही नहीं चाहते थे। इन्हीं बच्चों के बारे में कहा जा रहा है। इनके माता-पिता ने ही इन्हें यह सिखाया होगा कि हिंदी के मुकाबले अंग्रेजी कितनी महत्वपूर्ण भाषा है। इनके माता-पिता तो फिर भी हिंदी का कुछ प्रयोग करते होंगे। ये तो हिंदी को उसी तरह से देखेंगे जिस तरह से उससे गा। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 43

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 44

हिंदी का हाथी

■ **अजित कुमार**
वरिष्ठ साहित्यकार

संपर्क: 166 वैशाली
पीतमपुरा, दिल्ली -110034

'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का नारा देश की सामासिक संस्कृति के अनुरूप न था। यह देश न केवल हिंदी, न हिंदू, न हिंदुस्तान तक सीमित था बल्कि वह अनेक जातियों-परंपराओं-पद्धतियों, बोलियों-भाषाओं का ऐसा संगम था जो 'अनेकता में एकता' की भावना से उपजा और उसको पुष्ट करता था।

हिंदी के साथ 'हाथी' का जुड़ना मुझे ही क्यों, बहुतों को अटपटा या असंगत लग सकता है। कारण यह कि पारंपरिक रूप से हिंदी ही नहीं, हर मातृभाषा बोलनेवालों के लिए जहां 'मां'- समान होती है, वहीं पराधीनता जैसे अनेक कारणों से हिंदी औरों की ही नहीं, स्वयं निज भाषा-भाषियों की भी निगाह में लंबे समय तक 'दासी' या 'गरीब की जोरू' वाली हैसियत में बनी रही। इससे उबरने की स्थितियां आने के बाद भी, उसे राजभाषा/राष्ट्रभाषा का वह स्थान नहीं मिल सका, जिसे पाने की उसे उम्मीद थी और जिसकी अधिकारिणी वह हिंदीभाषियों के साथ-साथ, असंख्य अहिंदीभाषियों द्वारा भी समझी जाती रही थी ।

तथापि, हिंदी को हाथी के साथ जोड़ना इस कारण भी कुछ को असंगत लगेगा क्योंकि अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शब्दावली में 'हाथी' इधर भारतीय अर्थतंत्र का प्रतीक समझा जाने लगा है, जबकि 'ड्रैगन' या 'अजदहा' चीनी अर्थतंत्र का पर्याय बना है । विश्व भर के अर्थशास्त्रियों की कुछ समय पहले तक आम राय थी कि युरोप और अमेरिका आर्थिक होड़ में धीरे-धीरे पिछड़ते जाएंगे और कुछ ही दशाब्दियों में चीन और भारत की अर्थव्यवस्थाएं उनसे आगे निकल जाएंगी । सामान्यत: जिसे 'गज-गति' या 'धीमी-बेफिक्र-राजसी चाल' कहते हैं, उसे भारतीय लोकतंत्र के अनुरूप मानते हुए, अपनी गुंजलक में सबकुछ को समेट सकनेवाले क्षिप्र 'अजदहे' को पिछले दसेक बरसों के दौरान चीन की अभूतपूर्व प्रगति का प्रतीक माना जाता रहा है। पारंपरिक रीति से भी वह उस देश में वैभव, मंगल और समृद्धि का प्रतीक माना जाता रहा है, जिस तरह गज भारत में।

आजादी की लड़ाई के दौरान उत्तर भारत में प्रचलित एक लोकगीत पर निगाह डालना इस संदर्भ में उपयोगी होगा-

'काहे पे आवें बीर जवाहर ?
काहे पे गांधी महराज ?
काहे पे आवें भारतमाता ?
काहे पे आवे सुराज ?'

इन सवालों का जवाब लोकचित्त के पास यह था -

'घोड़े पे आवें बीर जवाहर,
पैदर गांधी महाराज,
डोली पे आवें भारतमाता,
हाथी पे आवे सुराज ।'

0 0 0

मूलत: यही संदर्भ है हाथी को हिंदी से जोड़ने-समझने का। यह विदेशी शासन से संघर्ष करनेवाली जनभाषा को गौरव और अभिमान से जोड़ने, अन्यायी शासन से लड़ते हुए साधारणजन के त्याग और बलिदान का प्रतीक बनने तथा समतामूलक समाज के विकास में सहायक होने की व्यंजना करता है। 'हाथी के पांव में सबका पांव' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। हिंदी सबकी है, सबमें है, सबके लिए है। सत्तावानों की निगाह में भले वह 'गरीब की जोरू, सबकी भौजाई' समझी गई हो और सार्वजनिक छवि उसकी वही रही जो प्रसिद्ध व्यंग्यचित्रकार लक्ष्मण के दीन किंतु अपराजेय 'बाबूजी' की थी...तथापि यह संदर्भ प्रासंगिक है कि जो गोरी जाति इस पक्के इरादे के साथ आई थी कि भारत की पहचान मिटाने के लिए उसकी बोली-बानी खत्म कर उसे अंग्रेजियत के जामे में ढालना जरूरी होगा, वह इस सच्चाई को भी समझती थी कि इस देश के काले-कलूटे लोगों को यह यकीन दिलाकर ही 'गोरे सफल हो सकेंगे कि पश्चिम में सबकुछ अच्छा और विकसित है जबकि पूरब में सब कुछ बुरा और दकियानूसी है।' उन्होंने तथाकथित 'रूल ऑफ लॉ' यानी 'कानूनी शासन' के नाम पर अत्याचार का नंगा नाच शुरू कर दिया था और भारतीयों को उनके अधिकारों से वंचित कर अपने निर्मम जेलों में ठूंस दिया था। जाते-जाते भी वे यह दुष्प्रचार कर ही गए कि 'हिंदी को लाओगे तो वह तमाम देसी भाषाओं की छाती पर बैठ मूंग दलेगी... कि वह अपना 'साम्राज्य' बढ़ाएगी...जिससे बचने का उपाय यही है कि तुम अंग्रेजी का दामन मजबूती से थामे रहो।'

राष्ट्रीय नेतृत्व ने इसीलिए गोरों के काले कानून से लड़ने के लिए और उनके हथकंडों से निपटने के लिए राष्ट्रभाषा हिंदी को अपना हथियार बनाया था। स्वदेशी

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 45

का अंगीकार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, असहयोग आंदोलन, परम धर्म के रूप में अहिंसा की प्रतिष्ठा, रामधुन, जेल-भरो-कार्यक्रम, चरखा, 'सबको सन्मति दे भगवान' आदि में आस्था- निष्ठा सभी आयोजन उसी एक प्रमुख उद्देश्य-'स्वाधीनता-प्राप्ति' के बुनियादी हिस्से थे ।

0 0 0

लेकिन इन संकल्पनाओं में चाहे-अनचाहे जो भटकाव आ जुड़ा, वह था 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' का नारा जो देश की सामासिक संस्कृति के अनुरूप न था। यह देश न केवल हिंदी, न हिंदू, न हिंदुस्तान तक सीमित था बल्कि वह अनेक जातियों-परंपराओं-पद्धतियों, बोलियों-भाषाओं का ऐसा संगम था जो 'अनेकता में एकता' की भावना से उपजा और उसको पुष्ट करता था। भारत की इस बहुत बड़ी शक्ति और क्षमता ने ही उसकी सदा रक्षा की और यह संभव बनाया कि लूट-मार के इरादे से यहां आनेवाले विदेशी बहुधा यहीं बस गए, घुलमिल गए और यहीं के हो गए ।

यही कारण है कि शुद्धता की जरूरत समझते हुए भी भारत में जात-पांत, बोली-बानी, खान-पान आदि की विशुद्धता बनी न रह सकी और आज देश भले ही तरह-तरह के ऐसे बंटवारों में फंसा दिखता हो जो अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने को व्यग्र हों, लेकिन असलियत यह है कि लगभग सब कुछ यहां मिश्रित या 'संकर' है। इसको पहचाना, कहा और समझा जाना चाहिए ।

0 0 0

हिंदी को ही लें तो उसके आरंभ और विकास के बारे में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पुराना विचार यह था कि वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक आते-आते हजारों सालों का जो वक्त गुजरा, उसके दौरान अनेक भाषिक रूपांतर हुए जिन्हें पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि नामों से जाना जाता है । इन परिवर्तनों का मुख्य कारण यह समझा गया कि भाषा को बरतने वालों के स्तर में समय के साथ-साथ इतना अंतर होता जाता है कि आम

अनीश कपूर की एक कलाकृति

और खास के बीच भाषा एक-सी नहीं रह पाती। पढ़े-लिखे लोगों की भाषा कठिन होती जाती है, जबकि कम पढ़े-लिखे लोगों की बिगड़ी भाषा ही अधिकांश लोगों की भाषा बन जाती है। उसमें से फिर एक सुसंस्कृत भाषा का स्वरूप उभरने लगता है । कुछ विद्वानों के अनुसार हिंदी को अपना आधुनिक रूप पाने के लिए डेढ़ दो हजार वर्षों का समर तय करना पड़ा था, जबकि कुछ विद्वान भाषाओं के उद्गम और विकास का यह प्रारूप नहीं मानते। वे कहते हैं कि अधिकतर भाषाएं समानांतर रूप से अपने-अपने क्षेत्र में बरती जाती रहती हैं; पड़ोसी और पराई भाषाओं से असर लेती हुई विकसित होती चलती हैं और बदलाव-ठहराव के घात-प्रतिघात वाले सामान्य नियम से परिचालित होती हैं ।

मोटी-सी यह बात साफ है कि जो भाषा सीमित क्षेत्र या समुदाय की होगी, उसके स्थिर होने की संभावना अधिक होगी जबकि विस्तृत क्षेत्र या समुदाय की भाषा में अधिक फेरबदल हो सकते हैं। पुरानी कहावत थी- 'चार कोस पे पानी बदलै, आठ कोस पे भासा 'लेकिन जिस जमाने में सभी सीवर का साफ किया पानी पी रहे हों, और ध्वनि-तरंगों पर अंतरिक्ष के संदेश सुन रहे हों, उसमें दाना-पानी या बोली-बानी को पारंपरिक विधियों से नहीं समझा जा सकता।

यह तो सभी जानते होंगे कि हिंदी के पक्ष में यह सहमति आजादी मिलने के पहले ही बन गई थी कि वह राजभाषा होगी, लेकिन इन सत्तर सालों में वह राजकाज की दहलीज तक नहीं लांघ सकी, जबकि घर-दुआर-बाजार में वह मजे से रच-बस गई है- कुछ इस तरह और ऐसे अंदाज में कि अंग्रेजी का बड़ा से बड़ा तूफान भी अब उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। यहां तक कि जिसे 'हिंग्लिश' कहकर

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 46

दुरदुराया जा सके, वह भी हिंदी को समृद्ध करने में जुट गई है। किसिम-किसिम की हिंदी उसे कमजोर नहीं कर रही, वह उसकी संभावनाएं बढ़ा रही है। हिंदी समूचे भारत की ही नहीं, दुनिया के जिस भी हिस्से में भारतवासी पहुंचे हैं, उनके बीच आपसी आदान-प्रदान और अंतरंग संबंध-सूत्रों की भाषा बनती गई है ।

0 0 0

जो भी हिंदुस्तानी कभी दुबई गए होंगे और वहां उन्होंने लंबे-चौड़े अजदहे की शक्ल में निर्मित विशालकाय 'ड्रैगन मार्केट' देखी होगी- जरूर गौर किया होगा कि वहां दुनियाभर के समृद्ध पर्यटक हर दिन हजारों की तादाद में चीनी माल खरीदने इकट्ठे होते हैं। मुमकिन है, तब उन्हें अपने गांव-कस्बे की वह खस्ताहाल हाट-बाजार याद आती होगी जहां सब-कुछ पटरी पर धरा होता है और डरे-सहमे निर्धन खरीदार इसी जुगत में भटकते फिरते हैं कि उम्दा माल बिक जाने के बाद, बचा-खुचा, सड़ा-गला सस्ता सौदा खरीद कर वे अपना काम चलाएंगे...ऐसे संतोषी-मितव्ययी औसत हिंदुस्तानी को लूट-खसोट के बलबूते 'खाओ-फेंको-प्रचलन'अर्थात 'थ्रो-अवे' रहन-सहन का पाठ भले ही कभी-कभी लुभाता हो...पर उसकी चेतना में जो धुन रची-बसी है, वह है- 'ते ते पांव पसारिए, जेती चादर होय।'

रही बात हाथी और अजदहे के बीच तुलना की तो जाहिर है कि हाथी में अजदहे जैसी चुस्ती और फुर्ती नहीं आ सकती। वह अपनी स्वाभाविक मंथर गति से ही चलकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। यह पारंपरिक कथन- 'सहज पके सो मीठा होय' में भी निहित है। हाथी की अपनी स्वाभाविक चाल के नीचे संभव है, अजदहे की पूंछ कभी दबती-सी प्रतीत हो, पर भगवान शंकर और विघ्नेश लंबोदर से प्रेरित इस शाकाहारी जीव की स्वाभाविक वृत्ति यही रहेगी कि उसके उदर पर लिपटे 'ड्रैगनदेव' अपने फन को उसके मस्तक पर मुकुट जैसा ताने रह, महादेव की-

अतीत में भारतीय ऋषियों ने 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे संतु निरामया... का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया था, वह सिखाता है कि एक-दूसरे की गर्दन काटकर नहीं, 'साथी, हाथ बढ़ाना' का मतलब समझकर ही दुनिया को बचाया जा सकेगा।

सी छवि झलकाते रहें ।

0 0 0

एशिया के इन दो महादेशों के बीच प्रतियोगिता की नहीं, आर्थिक-सामाजिक-नैतिक समझबूझ की राहें खुलकर समूचे महाद्वीप और अन्तत समग्र: विश्व के कल्याण में योग दे सकेंगी। जिस तरह महादेव का मुकुट नागराज के उठे हुए फन से शोभित हो मंगल का प्रतीक बनता है, उसी तरह गजराज के मस्तक पर शोभित ड्रेगनदेव पिछली सदी में हुए दो-दो विश्व युद्धों के विनाश से भिन्न सर्वकल्याण की राह मानवता के लिए खुली रख सकें, यह आदर्श प्रीतिकर ही नहीं, सर्वथा काम्य भी है ।

अतीत में भारतीय ऋषियों ने 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे संतु निरामया... का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया था, वह सिखाता है कि एक-दूसरे की गर्दन काटकर नहीं, 'साथी, हाथ बढ़ाना' का मतलब समझकर ही दुनिया को बचाया जा सकेगा। क्षुद्र हितों के लिए दूसरे का अहित करने से अधिक निंदनीय भला और क्या हो सकता है!

राष्ट्रभाषा हिंदी के इस नए प्रतीक 'हाथी' की प्रासांगिकता इससे भी मापी जा सकती है कि देश में विद्यमान अधिकांश प्राचीन अवशेषों- प्रासादों, पारंपरिक भवनों तथा पूजागृहों के प्रवेश द्वारों पर अभिवादन की मुद्रा में सूंड़ उठाए गजराज यत्र तत्र सर्वत्र अंकित अथवा उत्कीर्ण मिल जाते हैं। मंगल और शांति के प्रतीक इस शक्तिशाली जीव को भारतीयों ने पारंपरिक रूप से अपना मित्र और सहचर माना समझा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्मानपूर्ण पद मर्यादा मिल जाने के बाद भी हिंदी का यह बिंब अपनी पारंपरिक छवि से युक्त रहनेवाला है। वह सहायक, भारवाहक और अहिंसक बना रहता हुआ कल्याण के प्रतीक विघ्नेश अर्थात मांगलिकता के प्रतीक देवता 'गणेश' की सदा-सर्वदा याद दिलाते हुए हमारे समेत सबके पथ को प्रशस्त करता रहेगा।

इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए, उन गोरी जातियों को भी नहीं जो अपने रंग-रूप का सहारा लेकर कई शताब्दियों तक भोले-भाले विश्वासी ऐशियाई-अफ्रीकी समुदायों का शोषण करती रही थीं। उपनिवेषवाद और साम्राज्यवाद के घिनौने चेहरों से जिन लोगों का साबका पड़ चुका है, वे कदापि उस पथ को अपना आदर्श नहीं बना सकते । महात्मा गांधी की अंहिसा के प्रति निष्ठा और असहयोग को प्रतिरोध के समर्थ साधन के रूप में अपनाना किसी एक व्यक्ति का निर्णय नहीं, समूची भारतीय चेतना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति समझी जानी चाहिए।

आजाद होने के पिछले लगभग 70 वर्षों में ही नहीं उससे पहले के भी इतिहास में भारतीय चित्त की इस केंद्रीय संरचना को सरलता से पहचाना जा सकता है। उसे समझ और सराहकर ही यह रहस्य खुल सकेगा कि आखिर क्यों भारत ने कभी कोई विजय अभियान किसी अन्य देश को पददलित करने के लिए नहीं छेड़ा और जो तमाम विदेशी आक्रमणकारी हमें पराधीन करने की इच्छा से यहां आए, उन्हें भी अपना बना लेने का उपक्रम किया । ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 47

साहित्य, समाज और राजभाषा

■ **जयशंकर**
साहित्यकार

जीवन की खोज करते रहना साहित्य का स्वभाव है मगर जीवन का आविष्कार करना साहित्य की जिम्मेदारी है। समाज बदलता है, आदमी से आदमी के रिश्तों में परिवर्तन आता है, आदमी का अपने समय से, अपनी सभ्यता से, अपने समाज और देश से संबंध बदलता रहता है और समाज में आए ये बदलाव, साहित्य में भी बदलावों को प्रेरित करते रहते हैं।

अपनी बात पिछली सदी की एक अत्यंत प्रसिद्ध अंग्रेज लेखिका वर्जिनिया वुल्फ के एक निबंध के अंत से करता हूं। वजिर्निया वुल्फ लिखती हैं- 'यह कयामत के दिन की बात है। ईश्वर पृथ्वी से आए लोगों को उनके धरती पर किए गए कर्मों के अनुसार पुरस्कार बांट रहे हैं- किसको क्या देना है, वे पीटर से पूछते हैं-पीटर बताता चला जाता है और ईश्वर पुरस्कार देते रहते हैं। फिर कुछ लोग अपने हाथ में पुस्तक लिए आते हैं। ईश्वर पीटर से पूछता है कि इनको क्या देना है? पीटर पहले चुप रहता है- सोचता है ईश्वर कुछ देर के लिए हैरान हो जाता है-फिर पीटर कहता है कि 'हम इनको कुछ नहीं दे सकते हैं- ये लोग धरती पर किताबें पढ़ते रहते हैं। इनको सबकुछ मिल गया है। इन्होंने हर चीज का अनुभव उठा लिया है। अब इनकी कोई लालसा नहीं बची है। अब इसका कोई सपना अधूरा नहीं हैं।'

वर्जिनिया वुल्फ की ये पंक्तियां यह भी बताती हैं कि साहित्य हमारे लिए क्या करता है, कितना करता है। और आप सभी जानते ही होंगे कि साहित्य जीवन की खोज करता है, साहित्य जीवन का अविष्कार करता है, साहित्य हमें मनुष्य होने का अर्थ समझाता है, आदमी होकर जीने का मतलब समझाता है- इस सृष्टि पर हर मनुष्य एक तरह के अधूरेपन को, एक तरह के अकेलेपन को, एक तरह के अनाथपन को महसूस करता रहता है जिसको पता है कि हमें एक ही जीवन मिला है, वे अपने शाश्वत अधूरेपन से बाहर निकलना चाहते हैं- मनुष्य का यह अकेलापन सदियों पुराना है। यह मनुष्य के साथ तब से चला आ रहा है जब उसे स्वर्ग से निकाला गया था। आप जानते ही हैं आदम और हव्वा का किस्सा।

इस सृष्टि में अपने अधूरेपन से मुक्त होने के लिए जानवर प्रकृति के पास जाते हैं। साधु-संन्यासी ईश्वर की शरण में। हमारे जैसे साधारण लोग अपने अधूरेपन से बाहर निकलने के लिए साहित्य का सहारा लेते हैं, कलाओं के पास जाते हैं, संगीत सुनते हैं- यह सब सदियों से घटता आ रहा है।

मुझे यह लज्जा की बात नहीं जान पड़ती कि हम साहित्य के पास मनोरंजन के लिए भी जाते हैं- पर सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं- सिर्फ मनोरंजन का काम घटिया उपन्यास करते हैं- घटिया फिल्में करती हैं, घटिया टी.वी. सीरियल्स करते हैं। होमर, शेक्सपीयर, गेटे, टॉल्स्टाय हों या वाल्मीकि, तुलसी, कालीदास, प्रेमचंद आदि का साहित्य हमारा मनोरंजन तो करता ही है, हमें उस मन (मन यहां जरूरी शब्द है।) के बारे में भी बताता है, जिसको वह रंजित कर रहा है। हम पढ़ते-पढ़ते रुक जाते हैं। हम पढ़ते-पढ़ते सोचने लगते हैं कि कुंती ने कर्ण के रहस्य को क्यों छिपाया था? अगर वह इस रहस्य को नहीं छिपाती तो कर्ण का क्या होता? क्यों द्रोपदी के भयावह अपमान के वक्त भीष्म जैसा व्यक्ति खामोश बना रहता है? सीता ने तो अग्निपरीक्षा दे दी थी फिर राम ने उन्हें जंगल में क्यों भेज दिया? क्यों भूल गए थे दुष्यंत शकुंतला को? अगर टॉल्स्टाय की अन्ना प्रेम नहीं करती तो क्या वह आत्महत्या से बच सकती थी?

श्रेष्ठ साहित्य हमारा मनोरंजन भी करता है लेकिन मनोरंजन करनेवाला हर साहित्य श्रेष्ठ नहीं होता है। हर साहित्य हमें खुद को जानना, समझना सिखाता है। क्योंकि खुद को जानने की इच्छा का कोई अंत नहीं है, इसलिए साहित्य का भी कोई अंत नहीं है। वह बना रहा है और बना रहेगा।

पर साहित्य बदलता जरूर रहता है, क्योंकि जीवन बदलता चला जाता है, समाज बदलता चला जाता है, युग बदलते हैं, सदियां बदलती जाती है और जीवन की जरूरतों में परिवर्तन होता रहता है। वाल्मीकि के राम, तुलसी के राम से अलग नजर आते हैं। उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों का नायक मध्यवर्ग से आता है- फिर बीसवीं सदी में क्रांतियां होती हैं, महायुद्ध होते हैं, और उपन्यासों के नायक सर्वहारा वर्ग से आने लगते हैं। आप जानते होंगे कि भारत में ही अलग-अलग भाषांओं में, महाभारत के

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 48

ही ऐसे पात्रों पर साल-दर-साल किताबें आती रहती हैं। जिन पात्रों का जीवन अंतर्विरोधों से भरा हुआ है-आप द्रौपदी, कर्ण, भीष्म आदि पर अलग-अलग भारतीय भाषा में आये साहित्य को देख सकते हैं-रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में आया कर्ण-कुंती संवाद, मराठी लेखक शिवाजी सावंत के उपन्यास 'मृत्युंजय' में बदल जाता है।

समाज बदलता है, आदमी से आदमी के रिश्तों में परिवर्तन आता है, आदमी का अपने समय से, अपनी सभ्यता से, अपने समाज और देश से संबंध बदलता रहता है और समाज में आए ये बदलाव, साहित्य में भी बदलावों को प्रेरित करते रहते हैं।

जीवन की खोज करते रहना, साहित्य का स्वभाव है मगर जीवन का आविष्कार करना साहित्य की जिम्मेदारी है। हमें इस सच का भी ख्याल रखना चाहिए कि जितनी तेजी से दुनिया बदलती है, उतनी तेजी से न भाषा बदलती है और न ही बदल सकती है। साहित्य का परिवर्तन अंतरात्मा का परिवर्तन है इसीलिए उसकी गति धीमी होती हैं। हिंदी के आधुनिक साहित्य में जनजीवन से जुड़े साहित्य की बहुत ज्यादा बातें होती रहती हैं। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'जन-जीवन' शब्द में जन तो जटिल शब्द है ही और जीवन उससे भी ज्यादा जटिल है। लेखक अपने लिखने के प्रति ज्यादा से ज्यादा प्रतिबद्ध रहकर समाज को परिवर्तन का बोध भर करवा सकता है। साहित्य की समाज परिवर्तन करने की बात साहित्य के जरिए समाज में क्रांति की बात, मेरे मन में संशय जगाती है। इतना जरूर है कि एक लेखक की जीवनदृष्टि, एक लेखक की विश्व दृष्टि उसके पाठकों के जीवन को एक नये आलोक में, नये अर्थ में देखने का अवसर प्रदान कर सकती है।

पूरी दुनिया में साहित्य हाशियों पर ही खड़ा है। पश्चिमी देशों में और ज्यादा जहां मनोरंजन व्यवसाय के नाम पर साहित्य की

भाषा के लिए लड़ी जाने वाली कोई भी लड़ाई मान्यता के लिए भूख नहीं, स्वीकृति पाने की प्यास नहीं बल्कि करोड़ों लोगों को एक पुराने, पारंपरिक देश में उनकी जगह दिलवाने की बेचैनी है। यह उस भाषा के बोलने वाले आदमी के लिए, उसकी अस्मिता के लिए एक विनम्र-सा आग्रह है।

जगह सिकुड़ती जा रही है- भारत जैसे पारंपरिक देश में महाभारत, रामायण, उपनिषदों, लोककथाओं, लोकनृत्यों की व्यापक उपस्थितियों से साहित्य की अपनी जगहें उतनी प्रभावित नहीं हई हैं। तुलसी, कबीर, मीरा को सुना जाता है, गालिब की गजलों का महत्व बना हुआ है, बंगाल में रवीन्द्र संगीत के जरिए रवीन्द्रनाथ का लिखा गया आज भी जीवंत बना हुआ है।

स्वतंत्रता के बाद से हमारा यह सपना रहता आया था कि (यथार्थ यह भी है कि आजादी मिलने के बाद गांधीजी ने अंग्रेजी में इंटरव्यू देने से मना कर दिया था और हमारी स्वाधीनता का पहला भाषण नेहरूजी ने अंग्रेजी में दिया था।) हिंदी भाषा का विकास होता रहे वह सिर्फ अध्ययन की-साहित्य रचने की भाषा ही नहीं, वह तमाम उथल-पुथल व्यवहार और परिवर्तन की भाषा बने। साहित्य की भाषा में वह सिर्फ भाषा ही नहीं बनी रहे बल्कि 'जुबान' बने। और उसका सम्बन्ध मनुष्यता के एक बड़े हिस्से भारत जैसे देश के भाग्य से और ज्यादा जुड़ सके। हम सब जानते हैं कि इस दिशा में हमें निराशाएं ही मिली हैं।

हमारा दुर्भाग्य यह है कि आजादी के पहले एक सामान्य हिंदीभाषी का अपने साहित्य से, अपनी भाषा से रिश्ता कुछ ज्यादा गहरा और भावनात्मक बना हुआ था। आजादी से पहले तमाम भारतीय भाषाओं के बोलने वालों का अपनी भाषाओं से रिश्ता मजबूत हुआ करता था जो इधर बहुत ज्यादा कमजोर हो चुका है। अभी-अभी दिवंगत हुए हमारे देश के एक बड़े कन्नड़ लेखक यू. आर. अनंतमूर्ति कहा करते थे कि अगर भारतीय भाषाओं के प्रति हमारी लापरवाही, उदासीनता का यही हाल रहा तो आने वाले बरसों में हमारी भाषाएं सिर्फ रसोईघर में बोलने योग्य रह जाएंगी।

मैं ज्यादा विस्तार में न जाते हुए यह कहना चाहूंगा कि आदमी की गुलामी सिर्फ आर्थिक और समाजिक ही नहीं, मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक गुलामी भी होती है। मानसिक गुलामी समाज को अर्थहीन, अराजक और अविश्वसनीय बना देती है और आदमी को गूंगा और इकहरा। फ्रेंकफर्ट स्कूल के एक प्रसिद्ध चिंतक हरबर्ट मारक्यूज ने मास सोसायटी के परिप्रेक्ष्य में आदमी की स्थिति पर अध्ययन करते हुए अपनी किताब का नाम ही 'वन डायमेंशनल मैन' रखा है।

हमें बराबर याद रखना चाहिए कि भाषा के लिए लड़ी जानेवाली कोई भी लड़ाई मान्यता के लिए भूख नहीं है, स्वीकृति पाने की प्यास नहीं है बल्कि करोड़ों लोगों को एक पुराने, पारंपरिक देश में उनकी जगह दिलवाने की बेचैनी है। यह कोई छीना-झपटी नहीं है। यह भाषा को और इस तरह उसे बोलने वाले आदमी के लिए, उसकी पहचान के लिए, उसकी अस्मिता के लिए, उसके स्वाभिमान के लिए एक विनम्र-सा आग्रह है। अगर भारतीय भाषाएं अपनी पहचान बनाती हैं, हमारी जरूरतों को पूरा करने का जरिया

बनती हैं, समाज, प्रशासन, साहित्य, विज्ञान, टेक्नोलॉजी आदि के क्षेत्र में उसका व्यापक इस्तेमाल बढ़ता है, तब हमें न केवल अपनी मानसिक गुलामी से छुटकारा मिल सकता है बल्कि कुछ और ज्यादा लोगों को कुछ और ज्यादा आजादी मिल सकती है, उपनिवेश के गुलामी के दिनों के कुछ खंडहर ढह सकते हैं, कुछ और ज्यादा लोग जीवंत, जागरूक और जिम्मेदार बन सकते हैं।

हमारा देश अनेक स्तरों पर स्वयं को उद्घाटित कर रहा है, परिभाषित कर रहा है। वह खुद को संपूर्ण सच्ची और समूची परिभाषा में सामने आना चाहता है और उसकी अपनी यह परिभाषा, अपनी ही भाषा के जरिए संभव हो सकती है। किसी भी पराई भाषा में भारतीय आदमी अपने स्वप्न को अच्छी तरह से यथार्थ में बदल नहीं पाएगा, किसी भी पराई भाषा में वह अपनी जिम्मेदारी का ठीक से निर्वाह नहीं कर पाएगा।

आदमी के भविष्य से जुड़े सवालों को आदमी के वर्तमान से जुड़े प्रश्नों को उसकी भाषा के भविष्य और वर्तमान के सवालों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। आदमी को नष्ट करना हो तो इसकी भाषा को नष्ट करना जरूरी हैं। यह हमने इतिहास के अलग-अलग पड़ावों पर देखा ही है। हम जानते ही हैं कि संस्कृत को किस तरह नष्ट किया गया था। पश्चिम में 'रेड इंडियंस' की भाषाएं कैसे नष्ट की गईं और दक्षिण अफ्रीका की भाषाओं के साथ क्या-क्या हुआ था? यह सब एक लंबी, उदास कर देने वाली निराशाजनक कहानियां हैं, जो हम सबको मालूम हैं।

हम सभी यह भी जानते हैं कि हमारे देश के अत्यंत समृद्ध लोगों का सामान्य बौद्धिक स्तर बहुत ऊंचा नहीं है। हमारे आज के ज्यादातर नेताओं को सुनकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि राजनीति कितनी औसत प्रतिभा के लोगों के हाथ में है। पर यही राजनीति सिर्फ राजनीति ही नहीं, पूरे देश समाज, विश्व और मनुष्यता का

यदि भारतीय भाषाएं अपनी पहचान बनाती हैं तो हमें न केवल मानसिक गुलामी से छुटकारा मिल सकता है बल्कि कुछ और ज्यादा लोगों को कुछ और ज्यादा आजादी मिल सकती है, उपनिवेश के गुलामी के दिनों के कुछ खंडहर ढह सकते हैं, कुछ और ज्यादा लोग जीवंत, जागरूक और जिम्मेदार बन सकते हैं।

भविष्य निर्धारित करती है। भारतीय भाषाओं का भविष्य और भारतीय भाषाओं की नियति को भी हमारी राजनीति, हमारी संसद ही निर्धारित करेगी। बहुत बड़े फैसले हमारे हाथ में नहीं हैं। हम अपने ही छोटे-छोटे शब्दों में हिंदी के लिए कुछ थोड़ा-सा कर सकते हैं। जब तक हिंदी के दरवाजे, भारतीय भाषाओं की खिड़कियां, रोजगार के लिए पूरी तरह अच्छी तरह खोली नहीं जाएंगी, तब तक हमारी प्रतिभा का एक बड़ा हिस्सा अपनी प्रतिभा की, अपनी कुशलता को, अपनी संपूर्णता में व्यक्त नहीं कर पाएगा।

यहां हमारे जैसे साधारण लोग विवश हो जाते हैं। हमारी सीमाएं तय हो जाती हैं पर हमें अपने देश से, देश के लोगों से लगाव है, तब हमें अपने देश के लोगों की भाषाओं से अपने रिश्तों को बढ़कर बनाने की कोशिश करनी होगी। जब व्यावहारिक स्तर पर सम्मान मिलना शुरू हो जाएगा तब हमें हिंदी दिवस पखवाड़ा जैसे कार्यक्रमों की जरूरत भी नही रहेगी।

पर हमारी बहुत सी सीमाएं हैं। हम अपनी तरफसे इतना जरूर कर सकते हैं कि अपने निजी और सार्वजनिक जीवन में भारतीय भाषाओं का, हिंदी का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल करें भारतीय भाषाओं को, किताबों को ज्यादा से ज्यादा खरीदने और पढ़ने की कोशिश करें और आने वाले लोगों को हमारे देश की भाषाओं की शक्तियों से, अंग्रेजी भाषा की अपनी शक्तियों से बराबर परिचित करवाते रहें। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि करोड़ों शिक्षित हिंदी भाषियों के सात आठ राज्यों में फैले हुए होने के बावजूद हिंदी के बड़े से बड़े लेखक की किताब का पहला संस्करण 600 या 1100 प्रतियों का होता है जबकि अंग्रेजी के साधारण से लेखक की किताब का पहला संस्करण 5000 प्रतियों से शुरू होता है।

हमारी अपनी भाषाओं में बड़े-बड़े लेखक रहे हैं। कई बड़े लेखक आज भी लिख रहे हैं लेकिन आपसी अनुवादों का बड़ा नेटवर्क न होने से हम सभी मलयालम, उड़िया मराठी जैसी भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य से अपरिचित बने हुए हैं। यह हमारे बस का है। हमारे बीच का कोई मणिपुरी से परिचित व्यक्ति वहां की किसी अच्छी कृति का कोई हिंदी में अनुवाद कर सकता है, कोई हिंदी की किसी अच्छी कृति का कन्नड़ में अनुवाद कर सकता है। हमारे यहां साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, भारतीय ज्ञानपीठ, कथा ग्रुप (श्रीमती गीता धर्मराज) ने भारतीय भाषाओं को एक दूसरे से जोड़ने का निरंतर और बहुत सुंदर प्रयत्न किया है। हम कम से कम अपनी भाषाओं की किताबों, पत्रिकाओं, अखबारों को खरीदकर पढ़ना भी शुरू करें तो यह हमारी भाषाओं के लिए, हिंदी को बचाने की छोटी सी, लेकिन कारगर कोशिश रहेगी। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 50

हिंदी क्षेत्र की बोलियों और लोकगीतों का अंतर्संवादी स्वर

■ **श्याम सुंदर दुबे**
समीक्षक

संपर्क: श्री चण्डी जी वार्ड
हटा (दमोह)
म.प्र.- 470775

लोककथाओं के अभिप्राय और लोकगीतों के लोकविश्वास संपूर्ण बोली क्षेत्रों में एक ही तरह से व्यवहृत होते हैं। लोककथाओं के अध्ययन करनेवालों का निष्कर्ष है कि संपूर्ण विश्व में लोककथा के कुल पंद्रह अभिप्राय हैं। ये लोक अभिप्राय अपने परिस्थितिगत तंत्र में अपने स्वरूप-संधान में अलग-अलग जरूर है किंतु उनके मूल आशय में कोई फर्क नहीं है।

मैं छत्तीसगढ़ के लोकगीत और लोककलाएं मुझे प्रभावित करती हैं। यहां बुंदेलखंड में बैठा जब मैं छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का गायन रेडियो या अन्य यांत्रिक माध्यमों से सुनता हूं, तब वे मुझे उत्कंठित कर देते हैं, मेरी हृदय-तंत्री झनझना उठती है, मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। लेकिन यह जो मेरे अंतस्तल में घटित होता है- यह केवल छत्तीसगढ़ के लोकगीत सुनकर ही नहीं बल्कि भोजपुरी, अवधी, मैथिली, बघेली, मालवी, असमिया लोकगीत सुनकर भी मेरे भीतर एक अजीब तरह की फुरफुरी जागने लगती है। मेरा मन इन गीतों में डूबने-उतरने लगता है। आखिर वह कौन सी चीज है जो मेरे अंतस्तल को इतनी गहराई से छूती है- इन लोकगीतों में? इनका संगीत तत्व है। इनकी बोली के शब्दों का संयोजन है? इनकी विषयवस्तु की संवेदनात्मक छुअन है? इनके समग्र रचनात्मक परिवेश की प्रतिध्वनि है? स्वाभाविक रूप से ये प्रश्न मेरे समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। इनके उत्तर में कोई सर्वनिष्ठ बात शायद नहीं कही जा सकती ह।

मेरा जन्म बुंदेलखंड में हुआ। किशोरावस्था इसी क्षेत्र के गांव-देहात में बीती। यहां की प्रकृति, यहां के लोकाचार, यहां के संबंध व्यवहार, यहां की लोककलाओं का संसार- न केवल मेरी संवेदना का निर्माण कर रहा था, बल्कि वह मेरे जैव कोषों में अपना स्थान निर्धारित कर चुका था। बुंदेली बोली की लयात्मकता, उसकी आंतरिक अर्थ ऊष्मा, उसकी भाव-व्यापिनी कहन भंगिमामाओं ने मेरी जीवन शैली ही जैसे निर्मित कर दी थी। आज मैं अनुभव करता हूं कि बोली मात्र एक भाषिक उपकरण मात्र नहीं है, वह एक सतत चेतना प्रवाह है जिसमें स्नात होकर हम निरंतर अपने होने की तलाश करते रहते हैं। यह बोली-बानी जो मुझे गढ़ती है- यह हजारों-हजारों वर्षों से अपनी अंचलगत सांस्कृतिक घाटियों-उपघाटियों से बहती हुई मेरे पास तक आई है। यह स्वाभाविक-सा सूत्र है कि बोली की संरचना में उस क्षेत्र की प्रकृति, जिसमें तमाम भौगोलिक संरचनात्मकता की हिस्सेदारी है- बोली के भीतर से आकार लेती रहती है- निहित है। उसमें मानवकृत समस्त ऐतिहसिक, सांस्कृतिक और नृतात्विक आशय-अनुष्ठान की अनुनादी आवृत्तियों का समाहार है। इस तरह लोक बोली जातीय-स्मृतियों के गहन अर्थ-वलयों का आघूर्णन आघात अपने लयानुसंधान में निरंतर करती रहती है।

बोलियां हमारी सच्ची मातृभाषाएं हैं। एक लोकबोली क्षेत्र में पला-पुसा व्यक्ति अपने चित्त की द्रवणशीलता की सीमा पर तब पहुंच जाता है, जब वह दूसरी बोलियों के क्षेत्र में प्रचलित कला-माध्यमों का आस्वादन करता है। ऐसा इसलिए होता है- कि लोकांचलों की संस्कृतियों का विकास लगभग एक ही जैसी मूल्य चेतना और एक जैसी जीवन अवधारणाओं के बीच से हुआ है। इन अवधारणाओं में एक अवधारणा है- प्रकृति और मनुष्य की साझा क्रियाशीलता! प्रकृति के साथ ही लोकजीवन का विकास हुआ है प्रकृति की प्रत्येक क्रिया ने लोकजीवन की संवेदना उसकी चेतना और उसके व्यापक बोध का निर्माण किया है। फसलों का बोना, काटना, ऋतुओं का आना-जाना, पशु-पक्षियों का जीवन चक्रीय बदलाव आदि ने मनुष्य की जीवनगत गतिविधियों के निर्धारण में महती भूमिका निभाई है। प्राय: सभी लोकांचलों में प्रकृति का स्वरूप और उसकी सक्रियता लगभग एक जैसी है। अब यह अलग बात है कि कहीं किसी वनस्पति की बहुतायत है तो कहीं किसी और तरह की भू-भौतिकीय संरचना है। किंतु इससे मानवीय आचार-विचार में कुछ अनुष्ठानिक अंतर ही आ सकता है, मूल अभिप्राय में प्राय: परिवर्तन नहीं आता। जैसे जहां धान की पैदावार होती है वहां

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 51

नवान्न का पर्व धान के पकने-काटने और उसके दाने सहेजने पर मनाया जाता है, जहां गेहूं की फसल होती है, वहां फसल के आने पर यह त्यौहार मनाया जाता है। वर्ष में शारदीय नवरात्रि और वासंतिक नवरात्रि मनाने में फसल चक्र के इसी विधान का अनुष्ठानिक आयोजन है। ऋतुएं लगभग सभी अंचलों में एक जैसी आती हैं। बुंदेलखंड और मिथिला के वसंत में एक ही तरह का वानस्पतिक उल्लास समाया रहता है, बुंदेलखंड के ईसुरी और मिथिला के विद्यापति तथा अवध के जायसी में वसंत एक जैसा ही आता है। इनकी कविताओं में जो वसंत विस्फारित होता है, उसकी भंगिमा एक जैसी है, उसका आचरण एक जैसा है, उसकी उत्तेजनाएं एक समान हैं। वसंत की आवाजाही ही यहां की बोलियों में एक ही संवेदना निर्मित करती है। इसीलिए शब्द कहीं आड़े नहीं आते हैं। वे अपना अर्थ बोलियों के स्तर पर एक जैसा ही विस्तारित करते हैं। ऋतुओं के बदलते क्रम में सामाजिक आचार और अनुष्ठानों का आयोजन सभी बोली-क्षेत्रों में एक जैसी पद्धति में रूपायित होते रहे हैं। इन आयोजनों के स्रोत वेदों और पुराणों में खोजे जाते हैं। चूंकि एक समय में ये स्रोत लोक में अपनी एक जैसी मान्यता प्राप्त कर चुके थे-सभी लोकांचलों में इन स्रोतों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करा ली थी। लोक ने इन्हें इनकी अनष्ठान प्रणालियों को कुछ अपनी स्थानीय रंगतों को उनमें जोड़कर स्वीकार कर लिया। इन अवसरों पर गाए जानेवाले गीत, इन अवसरों पर कही जाने वाली कथाएं, इन अवसरों पर किए जाने वाले पूजा-अभिचारों में सभी लोकांचलों में एक समरूपता है। यही वह समरूपता है जिसने लोक बोलियों की आत्मा को एक जैसे गुणसूत्र प्रदान किए हैं।

बोलियों का उद्‌भव प्राकृतों से हुआ है। प्राकृतों की संलग्नता संस्कृत के साथ इस रूप में है कि ये दोनों एक समय जन संवाद की माध्यम थीं। इनसे ही अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश ही बोलियों के पूर्व की भाषिक संरचना है। इनसे ही लोकांचली बोलियों की रूप-रचना का विकास हुआ है। इस आधार पर बोलियों का आंगन एक ऐसा चौगान जैसा है जिसमें बड़े घर की सभी दालानें खुलती हैं। इन दालानों से रहवासी निकलते हैं और आंगन में आकर प्रेमपूर्वक बतियाते हैं। मैं जब भोजपुरी इलाके में रहता हूं तो लगता है जैसे यह मेरा ही आंगन है। बात में वैसी ही मिठास घुली-मिली अनुभव करता हूं जैसी अवधी या बघेली बोली क्षेत्र में पहुंच कर करता हूं। कोई भी बोली मुझे पराई नहीं लगती है। अब यही देखिए कि ब्रज और बुंदेली सहोदरा हैं। इनकी मां एक ही अपभ्रंश है- अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी आपस में सगी बहिनें हैं। इस आधार पर सभी बोलियों में मौसियाना संबंध है- मौसियों की ये सभी संतानें आपस में बहिनापा से जुड़ी रहती हैं। जुड़ी हुई हैं। न केवल बोलियों बल्कि भाषाओं में भी यही मौसियाना है। सभी बोलियों के शब्द भंडार का एक बहुत बड़ा हिस्सा तत्सम शब्दों के अपभ्रंशीकरण से निर्मित हुआ है। परिणमत: कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के आधार पर इन शब्दों में बोलीगत भिन्नता है। यह भिन्नता आपसदारी में इतनी रची-पची है कि यह शाब्दिक अर्थग्रहण में कहीं बाधा नहीं बनती है। क्रियापदों की विभिन्नता प्राय: बोलियों में स्पष्ट होती है किंतु यह विभिन्नता भी मुख्य क्रिया पद को प्राप्त कर लेने पर समाप्त हो जाती है। मैं विद्यापति की रचनाएं पढ़ रहा था- 'आज देखलि धनि जाईल रे मोहि उपजल रंग।' 'देखलि' और 'जाईल' में देख और जाना क्रिया पद को प्राप्त कर लेने पर अर्थ हस्तगत हो जाता है 'आज मैंने नायिका को जाते देखा, मेरे मन में आनंद उत्पन्न हुआ।' बोलियों के मूल शब्दों की सार्वजनीनता बोलियों के भाषिक अंतरावलंबन का महत्वपूर्ण आधार है।

बोलियां हमारी सच्ची मातृभाषाएं हैं। एक लोकबोली क्षेत्र में पला-पुसा व्यक्ति अपने चित्त की द्रवणशीलता की सीमा पर तब पहुंच जाता है, जब वह दूसरी बोलियों के क्षेत्र में प्रचलित कला-माध्यमों का आस्वादन करता है। ऐसा इसलिए होता है- कि लोकांचलों की संस्कृतियों का विकास लगभग एक ही जैसी मूल्य चेतना और एक जैसी जीवन अवधारणाओं के बीच से हुआ है।

लोककथाओं के अभिप्राय और लोकगीतों के लोकविश्वास संपूर्ण बोली क्षेत्रों में एक ही तरह से व्यवहृत होते हैं। लोककथाओं के अध्ययन करनेवालों का निष्कर्ष है कि संपूर्ण विश्व में लोककथा के कुल पंद्रह अभिप्राय हैं। ये मोटिफ पूरे विश्व में कैसे वितरित हुए यह अलग तरह की शोध का विषय है लेकिन यह सच है कि ये लोक अभिप्राय अपने परिस्थितिगत तंत्र में अपने स्वरूप-संधान में अलग-अलग जरूर है किंतु उनके मूल आशय में कोई फर्क नहीं है। जैसे धोखे से किसी की हत्या कर देने पर वह कोई पेड़ बनकर पुनर्जन्म लेता है, फिर उस पेड़ की शाखा से बांसुरी बनाई जाती है और जब उस बांसुरी

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 52

से स्वर निकलना प्रारंभ होते हैं, तब वह अपने पूर्व जन्म का वृश्रांत सुनाने लगती है। लोककथाओं की केंद्रीयता का यह तत्व लोकचित्त को एक ही भूमिका में विस्तारित करने की शक्ति रखता है। लोकगीतों में निहित लोक विश्वासों में एक-सी सामाजिक सन्निकटता का बोध होता है। गंगा मैया पुत्र देती हैं- यह लोकविश्वास सभी क्षेत्रों में प्रचलित है, अत: सभी लोक बोलियों में इस तरह के लोकगीत रचे गए हैं कि लोकजन गंगा से संतान याचना करते प्रतीत होते हैं। बारहमासा जैसी लोकगीत रचनाओं में निहित लोक प्रकृति से संबंधित लोक विश्वास सर्वत्र एक जैसे ही प्राप्त होते हैं। इस रूप में लोक बोलियों के मध्य आवाजाही के रास्ते खुलते रहे हैं।

लोक के आस्था-चरित्रों की जीवनलीलाओं के गायन आधार कतिपय परिवर्तनों के साथ एक जैसे ही हैं। इन चरित्रों में राम, कृष्ण, देवी, शंकर आदि देवप्रधान चरित्रों की प्रचुरता है। लोक में प्रचलित ये चरित्र अपनी लीलाओं में पुराण आगमित हैं अथवा लोक प्रचलित चरित्र लीलाओं का संगृथन पुराणों ने किया है, यह शोध का विषय हो सकता है। फिर भी मुझे लगता है कि इन कथाओं के सूत्र लोक में अपनी तरफ से रचे थे। बाद में इन सूत्रों को व्यवस्थित करके इन्हें महाकाव्यात्मक रूप दिया गया होगा।

संपूर्ण उत्तर भारत में राम की कथा लोक में कविता की भावधारा में एक जैसी ही है। कथा के साथ जुड़ी लोक विश्वासों की रंगतें स्थानीय प्रभावों की वजह से कुछ-कुछ अलग हैं। जैसे राजा दशरथ के यहां पुत्र-प्राप्ति के लिए किए जा रहे अनुष्ठानों में कहीं ऋषि द्वारा बताई गई जड़ी-बूटी को सिल पर पीसा जाता है- जिसे रानियां पीती हैं और गर्भवती होती हैं। कहीं अभिमंत्रित जल पिलाकर रानियों को पुत्रवती बनाया जाता है। लोक में प्रचलित यही विश्वास बाद में पुत्र यज्ञ के रूप में आकार लेते हैं। लोक बोलियों के बन्ना गायनों में सभी बोली-क्षेत्रों में सभी जाति-वर्णों के बन्ना-बन्नी राम और सीता होते हैं। कृष्ण की लीलाओं का गायन विभिन्न अवसरों पर किया जाता है- कृष्णलीला की विषयवस्तु में अधिक वैभिन्नता नहीं है। रामलीला और कृष्णलीलाओं का लोक आयोजन लोकांचलों में राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा में एक लोकव्यापी आधार प्रदान करते हैं। देवी गीतों की रचना 'भगत' के रूप में प्रचलित लोकगायन है। नवदुर्गा के पर्व पर इनका गायन संपूर्ण उत्तर भारत में किया जाता है। शिव की स्तुति में रचे गए लोकगीत कहीं बमभुलिया कहीं नचारियों के रूप में प्रचलित हैं। इस तरह के सभी लोकगीतों में देवी-देवता मनुष्य की कद-काठी और उनके जैसे क्रियाकलापों में ही अभिव्यक्त होते हैं। देवी किसी स्त्री के रूप में कुएं से जल भरती हैं तो यह बुंदेलखंड, मालवा, छत्तीसगढ़, में भी इसी रूप में व्यक्त है। शंकर यदि धतूरा खाते हैं तो वे सभी लोकांचलों में इस रूप में प्रचलित हैं। इन देवी-देवताओं के अलावा लोक देवताओं की भी लोक में प्रतिष्ठा है। ये ऐसे चरित्र होते हैं, जो समाज में अपने किसी विशिष्ट कृत्य के कारण लोक-आस्था के केंद्र बन जाते हैं।

बुंदेलखंड में हरदौल का एक ऐसा ही चरित्र देव स्थानीय बन गया है। इन लोक देवताओं के साथ अति मानसी कल्पनाएं अनेक अलौकिक घटनाओं के रूप में जुड़ जाती हैं। लोक में ये चरित्र हीरो के रूप में स्थापित होते हैं। इनकी वीरता और इनका त्याग ही इन्हें यह देवत्व प्रदान करता है। लोकचिंतन के रूप में निर्गुण-दर्शन की प्रवृत्तियां सभी लोकांचलों में एक समान हैं। धर्म तथा आध्यात्म ने लोक बोलियों की मिली-जुली सहभागिता को इस तरह से प्रस्तुत किया है कि लोक बोलियों में गाथापरक रचनाओं का साम्य अनायास

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 53

उपस्थित होता है।

मेरी दृष्टि में अधिकांश लोकगीतों और लोकसंगीत धुनों की रचना स्त्री कंठ से ही हुई है। यहां तक कि लोककलाओं की सर्जना का सूत्र भी स्त्री हाथों में ही अधिक रहा है। स्त्री की कोमल भावनाओं का समावेश इन लोक गीतों में सर्वत्र है। बात में पुरुषों ने भी अपनी रचनात्मकता का समाहार इस तरह के लोककला-जगत में सतत रूप से किया है। स्त्री संवेदना की प्रमुखता के कारण इन लोक रचनाओं में पारिवारिक अनुभूतियों का समावेश अधिक है। करुणा, आशक्ति , अंतर्व्यथा, आदि के साथ उल्लासपरकता से परिपूर्ण उत्सवधर्मिता को जो केंद्रीयता लोकगीतों में प्राप्त होती है- वह स्त्रीप्रधान संवेदना का ही परिणाम है। सभी बोलियों के लोकगीतों में ये स्वर सुने जा सकते हैं।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि लोकगीतों में प्रतीक संरचना के ताने-बाने प्रत्येक बोली क्षेत्र में प्राप्त होते हैं। तोता, मोर, पपीहा, कोयल, गौरैया जैसे पक्षियों को लोकगीतों में भाव-बिंब की तरह प्रस्तुत किया जाता है। घर-गृहस्थी के सामानों को भी इस रूप में याद किया जाता है। अनगनी, मथेरी, चूल्हा, लोटा, झारी, खाट, घड़ा आदि वस्तुओं को प्रतीक के लिए प्रयोग किया गया है। कमल, गुलाब, गेंदा जैसे फूलों की प्रधानता रूप-प्रभा की अभिव्यक्ति के लिए चयन किया गया है। नीम, अनार, आम, महुआ, पीपल, केला जैसे वृक्षों की उपस्थिति लोकगीतों की प्रतीक-संरचना के समाहारी आचरण को व्यक्त करने वाले हैं। गाय, हाथी, घोड़ा, शेर, हिरण आदि पशुओं को आधार मानकर लोकगीतों में भावना-व्यापार को पुष्ट करने की परंपरा सभी लोक बोलियों में प्राप्त होती है।

यद्यपि ये प्रतीक विधान के लिए प्रयुक्त होने वाली वस्तु-प्रयोजनाएं स्थानीय प्रभावों वाली हैं, लेकिन परिगणित प्रयोजनवती वस्तुओं का प्रयोग सर्वनिष्ठ है। सभी बोलीगत लोकगीतों में इनका प्रयोग होता है। ये प्रतीक काव्य की संप्रेषणीयता को बढ़ाने वाले तो होते ही हैं, लोक की कल्पना शक्ति की उड़ानों को भी ये प्रतीक संरचनाएं अभिव्यक्त करती हैं। एक सर्वेक्षण के दौरान मैंने यह तथ्य प्राप्त किया कि लोक की प्रतीक संरचना में गजब का साम्य उपलब्ध होता है। यहां मैं एक उदाहरण रखना चाहता हूं। विवाह के अवसर पर वर जब ससुराल पहुंचकर ससुराल-घर के दरवाजे पर खड़ा होता तब इसे द्वारचार कहा जाता है। द्वारचार की इस रस्म पर महिलाएं गीत गाती हैं।

एक गीत में यह कहा गया है कि नीली घोड़ी पर सवार वर द्वार पर ऊंग रहा है। नीली घोड़ी का यह प्रतीक मालवी, अवधी, बघेली बोलियों में ठीक उसी तरह से लिया गया है जैसा बुंदेली में। प्रतीक का यह वितरण किन आधारों पर हुआ होगा, यह विचारणीय है। लोक में नीले रंग के घोड़े का अभाव है फिर नीली घोड़ी कहां से आ गई। एक वैदिक ऋचा में सूर्य ऊंगने का बिंब प्रस्तुति किया गया है। नीले रंग की उषा पर सवार सूर्य अपनी किरणें बिखेरता हुआ ऊंग रहा है। संभवत: वर को सूर्य रूप में ही प्रतिष्ठित किया गया है इस प्रतीक में। लेकिन यह वेद की ऋचा का उल्था नहीं है। यह लोकदृष्टि का कल्पना आलोक ही है। लोक की कल्पना का यह वितान मात्र एक बानगी भर है अन्यथा लोक की कल्पना प्राय: सभी अवसरों पर सभी अंचलों में एक जैसी ही क्रियाशील है। चंदन की चौकी सोने की झारी, मोतिन का चौक आदि सभी बोली क्षेत्रों की गीत रचना में समाविष्ट है। लोक ने जो स्वप्न देखें हैं वे एक जैसे हैं, इसलिए उसके लोकगीतों में इन स्वप्नों का एक जैसा स्वरूप है।

लोकगीतों की लयों में भी एक आंतरिक साम्य है। प्रारंभिक लोकगीतों का मीटर बहुत छोटा था- लगभग सोलह मात्राओं वाला। छत्तीसगढ़ का ददरिया, बुंदेलखंड की राई जैसे लोकगीतों में यही मात्रा-विधान है। लोकगीतों की गायन शैलियों पर पारिस्थितिक तंत्र का प्रभाव यद्यपि अलग-अलग है लेकिन उनमें अंतर्निहित लय का आंतरिक अनुनाद एक जैसा है। असमिया लोकगीतों में पहाड़ी उतरान और चढ़ान जैसा आरोह-अवरोह है तो समुद्रतटीय लोकगीतों में समुद्र की लहरों जैसी उछाल अनुभव की जा सकती है। मैदानी इलाकों के लोकगीतों में चक्रीय गतिविधियां अपने सम पर चलती हैं। इस भिन्नता के बावजूद इन लयों में धरती की अघूर्णन क्षमता का एकांश समाया है। हवा के झोंकों का हलका-सा स्पर्श इनमें क्रियाशील है, जल का लहरिल उन्माद इनके भीतर की गति भंगिमाओं में अन्वेषित किया जा सकता है। इन लोकगीतों में प्राप्त होनेवाली लय में हम अपने लोक की गतियों का अनुभव करते हैं और दूर-दूर तक संप्रसारित होने लगते हैं। सभी लोकभाषाओं में ये गति भंगिमाएं सुरक्षित हैं।

लोकगीतों की भाषाई ताकत का अनुभव फिल्मों के संगीत से भी अनुभव किया जा सकता है। भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी लोक लयों का प्रयोग फिल्मी गीतों में किया गया है। इन लोक लयों का प्रभाव यदि एकक्षेत्रीय रहता तो इन गीतों की लोकप्रियता संदेहास्पद हो जाती। किंतु ये गीत अपनी आंचलिक परिधि को तोड़कर व्यापक हो जाते हैं। यह उस लय का कमाल है, जो हमारे भीतर हमारे लोक संस्कारों ने निर्मित की है। यह लय अपने स्पंदनों में वैश्विक अनुभव समाए रहती है, इसीलिए यह लोक बोलियों का अंतर्संवाद रचने में सक्षम लय-प्रयोग है। लोक बोलियां अपने गीतों में बहुस्तरीय अंतर्संवादी हैं इसलिए व्यापक लोकचित्र की द्रवणशीलता के लिए ये सभी उद् भावनाएं प्रसंगवान हैं। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 54

सांस्कृतिक संवेदना और सर्जनात्मकता: भारतीय साहित्य की उभरती प्रवृत्तियां

■ **प्रो. कृष्ण कुमार सिंह**
साहित्य समीक्षक

संपर्क: अध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001

भारतीय भाषाओं के साहित्य में आज के महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्शों की उपस्थिति है। प्राय: एक भाषा पर केंद्रित विमर्श तो होते रहे हैं पर तुलनात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य को लेकर विवेचन-विश्लेषण का प्रयास सीमित रूप में ही हो सका है। भारत को समझने के लिए इस वैविध्य का ध्यान रखा जाना चाहिए।

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साहित्य समाज का दर्पण होने के साथ ही समाज के लिए दर्पण का निर्माण भी करता है। भारतीय अवधारणा के अनुसार साहित्य अपने समय, समाज के सवालों से टकराते हुए आगे बढ़कर रचनात्मक ढंग से आलोचना और सभ्यता-समीक्षा भी करता है। साहित्य यथार्थ से जुड़ते हुए कल्पना के सर्जनात्मक उपयोग के द्वारा नए प्रश्न, सरोकार और विकल्प प्रस्तुत करता है तथा जो समाज के लिए कल्याणकारी है उसे स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस क्रम में समाज के साथ उसका संवाद बराबर चलता रहता है। तीव्र तकनीकी विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के वर्तमान दौर में यह आवश्यक है कि बदलते देश-काल के सापेक्ष बदले हुए साहित्यिक रुझानों तथा साहित्यिक विमर्शों को नए सिरे से पहचाना जाए और उनमें उभरती प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर उनके सरोकारों की पड़ताल की जाए।

विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में आज के महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्शों की उपस्थिति है। साहित्य-अध्ययन के क्षेत्र में प्राय: एक भाषा पर केंद्रित विमर्श तो होते रहे हैं पर तुलनात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य को लेकर विवेचन-विश्लेषण का प्रयास सीमित रूप में ही हो सका है। विविधताओं से भरे देश के रूप में भारत को समझने के लिए इस वैविध्य का ध्यान बराबर रखा जाना चाहिए। इसे दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न भारतीय भाषाओं की साहित्य सर्जना में सांस्कृतिक संवेदना की उभरती प्रवृत्तियों का अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करने के निमित्त महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग में एक महती परियोजना आरंभ की गई है। इसके माध्यम से देश के विभिन्न भागों एवं भाषा-परिवारों से आठ भाषाओं (असमिया, बंगला, हिंदी, मराठी, मलयालम, उड़िया, पंजाबी तथा तेलुगु) में रचे जा रहे सर्जनात्मक साहित्य के विश्लेषण से भारत की सांस्कृतिक परंपरा और उसमें आ रहे परिवर्तनों के प्रति साहित्य की प्रतिक्रिया को जानने-समझने का प्रयास किया जा रहा है। इन भाषाओं में रचित समकालीन कथा साहित्य उक्त परियोजना के केंद्र में है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य के साथ हिंदी के स्वस्थ संवाद के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण हमारा अभीष्ट है।

'पुस्तक वार्ता' के इस अंक में हिंदी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं में से मराठी एवं बांग्ला, के रचनाकर्म से जुड़े सुधीजनों द्वारा लिखे गए दो आलेख प्रस्तुत किए जा रहे हैं। विश्वास है हिंदी के पाठकों को हिंदीतर भारतीय भाषाओं के समकालीन कथा साहित्य में निहित संवेदना तथा सरोकारों से परिचित कराने का हमारा प्रयास पसंद आयेगा। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 55

समय के साथ चल रहा मराठी कथा साहित्य

■ सरयू प्रसाद मिश्र
साहित्य समीक्षक

मराठी साहित्य ने हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। नारी-चेतना एवं दलित-चेतना का उभार मराठी साहित्य के प्रभाव से ही हिंदी में आया। हिंदी के प्रेमचंद ने मराठी साहित्य को प्रभावित किया है। मराठी साहित्य हिंदी में और हिंदी साहित्य मराठी में अनूदित हो रहा है। अनुवाद ने भाषाओं के बीच सेतु निर्मित किया है।

मराठी भाषा का अस्तित्व दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक शब्द रूप में मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में (शिलालेख द्वारा) वाक्य रूप में तथा बारहवीं शताब्दी में ग्रंथ रूप में मिलता है। बारहवीं शताब्दी में मुकुंदराज द्वारा 'विवेक सिंधु' नामक ग्रंथ की रचना हुई। मुकुंदराज को मराठी का आदिकवि कहा जाता है। मराठी के भक्ति काव्य को संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि ने अपनी भावमय वाणी से समृद्ध किया। ज्ञानेश्वर ने 16 वर्ष की आयु में 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की जो मराठी साहित्य की अमूल्य निधि है।

सन् 1818 से आधुनिक मराठी साहित्य का प्रारंभ माना जाता है। पेशवाओं का शासन समाप्त हुआ और अंग्रेज यहां के शासनकर्ता बन गए। साहित्य और समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया इस संदर्भ में स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। अंग्रेजी के साथ उनकी भाषा और ज्ञान-विज्ञान भी आया। प्रेस आने से पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों ने रूढ़िग्रस्त समाज पर जो प्रहार किए उसकी प्रतिक्रिया हुई। अपने पिछड़ेपन एवं अभावों को दूर करने के लिए सुधारवादी आंदोलन प्रारंभ हुए। कुछ प्रतिभाशाली एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों ने अपने विचारों से साहित्य और समाज को प्रभावित करना प्रारंभ किया।

आधुनिक महाराष्ट्र के निर्माण में लोकहितवादी, दादोबा पांडुरंग, जोतिबा फुले, न्यायमूर्ति रानाडे, आगरकर, भंडारकर, लोकमान्य तिलक, शाहू छत्रपति महाराज आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही। महर्षि विट्ठल रामजी शिंदे ने ब्राम्हणेतर आंदोलन को रचनात्मक दिशा प्रदान की। बाबासाहेब आंबेडकर की दलित जाति के उत्थान में ऐतिहासिक भूमिका थी। आगे चलकर आंबेडकरी विचारधारा मराठी दलित साहित्य की प्रेरणा बनी। उन्नीसवीं शताब्दी में मराठी साहित्य काव्य तक ही सीमित न रहकर गद्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से अपने को व्यापक विस्तार देता है।

मराठी का पहला उपन्यास 'यमुना पर्यटन' है। बाबा पद्मजी की यह कृति सन् 1857 में प्रकाशित हुई। इसमें हिंदू धर्म के दोषों की ओर संकेत किया गया है। हरिभाऊ आपटे ने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे। इस काल के दूसरे महत्वपूर्ण उपन्यासकार वा.म. जोशी को चिंतनप्रधान उपन्यास का जनक कहा जाता है। उनका 'रागिणी' उपन्यास इसका जीवंत प्रमाण है।

वि.स. खांडकर सामाजिक चेतना के लेखक हैं। वे शोषितों, पीड़ितों, दलितों के प्रति उत्कट सहानुभूति रखते हैं। वीर सावरकर का 'काले पाणी' (1930) अंडमान के कैदियों के जीवन पर आधारित है। विश्राम बेडेकर के एकमात्र उपन्यास 'रणांगण' (1939) को पहला आधुनिक उपन्यास कहा जाता है। इसमें द्वितीय महायुद्ध की पृष्ठभूमि में कही गई करुण शोकांत कथा है। स्वतंत्रता पूर्व का मराठी उपन्यास मध्यवर्गीय घेरे में ही बंद रहा।

स्वातंत्र्योत्तर मराठी उपन्यास का प्रथम चरण सन् 1947-60 के कालखंड को माना जाता है। विभावरी शिरुरकर के 'बकी' (1950) ने मराठी उपन्यास की यथार्थवादी परंपरा को दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित किया। इस युग में गो.नी. दांडेकर, श्री.ना. पेंडसे, पु.भा. यावे, श्री.वा. दिघे, गंगाधर गाडगील, वसंत कानेटकर आदि लेखकों ने अपनी खास छाप छोड़ी। व्यंकटेश माडगूलकर का 'बनगरखाडी' (1955) सही अर्थों में मराठी का आंचलिक उपन्यास है। सन् 60 के बाद के उपन्यासकारों में चिं. त्र्यं. खानोलकर अद्‌भुत प्रतिभा के धनी थे। सन् 1963 में उनका 'रात काली घागर काली' उपन्यास प्रकाशित हुआ। उसके बाद 'अजगर', कोंडुरा', 'चानी' आदि उपन्यास आए। भालचन्द्र नेमाड़े का 'कोसला' (1962) उपन्यास एक अद्‌भुत घटना है, क्योंकि इसमें अब तक प्रचलित ढांचे की भयंकर तोड़फोड़ की गई। अरूण साधू ने 'मुंबई दिनांक' तथा 'सिंहासन' में तस्करों एवं राजनीतिज्ञों के कार्यकलापों के आधार पर कथानक विकसित किया है। इनकी कृतियां

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 56

सही अर्थों में राजनीतिक उपन्यास हैं।

मराठी कथाकारों का ध्यान मुंबई की झोपड़पट्टियों की ओर भी गया। जयवंत दलवी के 'चक्र' (1963) के बाद मधु मंगेश कर्णिक का 'माहिम ची खाड़ी' प्रकाशित हुआ। फिर भाऊ पाध्येर ने फुटपाथ और नुक्कड़ पर गुजर-बसर करनेवालों की दुनिया 'वासुनाका' में साकार की। आनंद यादव के गोतावला (1979) ने आंचलिक उपन्यास में एक नया मोड़ पैदा किया।

सन् 1915 से कहानी का विकास शुरू हुआ। सन् 1915 से 1926 के कालखंड में ना. ट. आप्टे, सरस्वती कुमार, गो. रा. भाटे, प्र.श्री. कोल्हाटकर आदि कहानीकार के रूप में उभरे। सन् 1926 के आसपास 'रत्नाकर', 'किर्लोस्कर', 'ज्योत्सना' आदि मासिक पत्रिकाओं के जरिए मराठी कहानी के विकास में गति आई। सन् 1926 से 1945 तक के कालखंड में ना.सी. फड़के, वि.स. खांडेकर, भा.वि. वरेरकर, य.गो. जोशी, वि.वि. बोकील, द.र. कवठेकर, अनंत काणेकर आदि कथाकारों ने मराठी कहानी को वैविध्य प्रदान किया।

सन् 1943 के आसपास ही मराठी कहानी में परिवर्तन के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे थे। गंगाधर गाडगिल, अरविंद गोखले, पु.भा. भावे और व्यंकटेश माडगुलकर की कहानियां नई कहानी के प्रवर्तन में योगदान करती हैं। गाडगिल ने कहानियां लिखने के साथ-साथ अपने लेखों के द्वारा नई कहानी का सैद्धांतिक आधार भी तैयार किया। नयी कहानी स्त्री-पुरुष संबंधों को नए परिप्रेक्ष्य में देखती है। प्रेम का तीव्र आवेग क्षीण हुआ है। ईश्वरीय आस्था के समक्ष प्रश्नचिन्ह खड़े होने के कारण मनुष्य के अच्छे-बुरे व्यक्तित्व का चित्रण करने के बदले मनुष्य के परिवेशगत अनुभव में उत्पन्न तनावों और दरारों को अधिक महत्व दिया गया। गंगाधर गाडगिल गरीबी और अमीरी दोनों में जीनेवाले व्यक्तियों, बालकों तथा वृद्धों का चित्रण किसी विचारधारा विशेष का गुलाम हुए बिना करते हैं। अरविंद गोखले संवेदनशील मनुष्य के दु:ख की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति करते

मराठी साहित्य ने हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। नारी चेतना एवं दलित चेतना का उभार मराठी साहित्य के प्रभाव से ही हिंदी में आया। हिंदी के प्रेमचंद ने मराठी साहित्य को प्रभावित किया है। मराठी साहित्य हिंदी में और हिंदी साहित्य मराठी में अनूदित हो रहा है।

हैं। वे पाठक को भयभीत नहीं करते। मनुष्य के अनेक स्तर, अनेक रूप, अनेक प्रकार उनकी कहानियों में मिलते हैं। दि.बा. मोकाशी और के. ज. पुरोहित 'शांताराम' मनुष्य के सुख-दुख, वासना, विकृति का उदारता से चित्रण करते हैं। वे मनुष्य से बहुत प्रेम करते हैं। प्रयोगधर्मी कहानीकार सदानंद रेगे के पात्र विक्षिप्त एवं टेढ़ी-तिरछी मानसिकता के होते हैं।

व्यंकटेश माडगुलकर मराठी के प्रथम आंचलिक कथाकार हैं। उन्होंने ग्राम्य जीवन को रोमानी नजरिए से नहीं देखा। उन्होंने देखे और भोगे हुए यथार्थ का चित्रण किया है किंतु हिंदी के फणीश्वरनाथ रेणु के समान कल्पना शक्ति उनके पास नहीं है। ग्राम्य जीवन के दूसरे चितेरे शंकर पाटिल ने अनुभव की जटिलता और तीव्रता को पकड़ा है। द.म. मिरासकर गांव के यथार्थ को हास्य का पुट देकर प्रस्तुत करते हैं। जी.ए. कुलकर्णी की पूर्ववर्ती कहानियों पर अस्तित्ववाद का प्रभाव है। उनकी उत्तरवर्ती कहानियां पाठक को चमत्कृत कर देती हैं। दिलीप चित्रे की कहानियां संस्कृति और समाज में गहन आस्था व्यक्त करती हैं। श्री.दा. पानवलकर की कहानियां मनुष्य के आदिम सत्य को निर्मित करती हैं। विजया राजाध्यक्ष ने नारी के निजी जीवन की अनुभूतियों को वाणी दी है। ह.मो. मराठे ने औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याओं-अमानवीयता, महानगरीय जीवन में स्त्रियों की दशा आदि का चित्रण किया है। कमल देसाई ने परिस्थिति निरपेक्ष मानव मन के स्वायत्त संसार को उद्घाटित किया। आनंद यादव एवं रा.रं. बोराडे ने ग्रामीण जीवन के यथार्थ एवं सुख-दुख का प्रभावशाली चित्रण किया है। अण्णा भाऊ साठे एवं शंकरराव खडत ने दलित जीवन की कहानियां लिखी हैं। बाबूराव बागुल एवं केशव मेश्राम के साथ ही भीमराव शिवराले, अर्जुन डांगले, माधव कोंडिवलकर, शरद कुमार लिंबाले, योगीराज वाघमारे आदि दलित जीवन से संबंधित विलक्षण अनुभवों को वाणी दे रहे हैं।

नई कहानी ने जो नई दिशाएं खोजीं, उस ओर साठोत्तरी कहानी बड़ी तेजी से अग्रसर हुई। ऊपर जिन लेखकों का उल्लेख हुआ है, उनका लेखन आगे भी गतिशील रहा। ह.म. मराठे के कई कहानी-संग्रह 1960 के बाद प्रकाशित हुए। मराठे के पत्रकार पेशे ने निरंतर उनके अनुभव क्षेत्र का विस्तार किया। मशीनीकरण से उत्पन्न होनेवाली समस्याएं, मजदूरों की दयनीय दशा तथा अधिकारी वर्ग की भोगवादी प्रवृत्ति इन सब पर मराठे के कथाकार की सजग दृष्टि है। नारी के यौन शोषण के विविध रूप भी उनकी कहानियों में हैं। भारत सासणे का 'लाल फुलांचे झाड़' संग्रह सन् 1984 में प्रकाशित हुआ। शीर्षक कहानी में नि:संतान नारी के जीवन की व्यथा कलात्मकता के साथ दर्शाई गई है। 'चिरदाह' (1985) संग्रह में चार दीर्घ कथाएं हैं। सन् 1987 में प्रकाशित कहानी 'बाबी चे दु:ख' में लेखक की मनोवैज्ञानिक पकड़ का परिचय मिलता है। उनकी कहानियों में विषय का वैविध्य दीख पड़ता है। वे व्यंजना से अपनी बात कहते हैं। वसंत नरहर फेणे अपने पाठकों को बूढ़ों के एकाकीपन एवं छोटे बच्चों की दुनिया में ले जाते हैं। सानिया का कहानी संग्रह 'शोध' 1980 में प्रकाशित हुआ। आंतरिक कारणों से उत्पन्न मनुष्य की वेदना का

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 57

वे सफल चित्रण करती हैं।

साठोत्तरी मराठी कहानी की एक बड़ी उपलब्धि है ग्रामीण कथाकारों का लेखन। इन कथाकारों ने मराठी की विविध बोलियों का प्रयोग किया। बाबाराव मुसले, व.वा.बोधे, उत्तम तुपे, गणेश आपटे, श्रीराम गुंदेकर, दे.शि. दुधवलकर आदि लेखकों का ग्रामीण कथा में महत्वपूर्ण योगदान है। साठोत्तरी कहानी में दलित लेखकों ने काफी कुछ जोड़ा है। केशव मेश्राम में उच्च वर्गों के प्रति उपहास की वृत्ति है तो निम्न वर्ग में जनमे बालकों और युवकों के मनोविज्ञान का भी बड़ा सूक्ष्म वर्णन है। योगिराज वाघमारे, अर्जुन डांगले, वामन होवाल, माधव कौडविलकर आदि दलित कथाएं लिखते समय निषेध, क्रोध और अतिरेकी उत्साह से बचने की कोशिश करते हैं।

मराठी के साठोत्तरी कथाकार उसके बाद भी लिखते रहे और उनकी महत्वपूर्ण कृतियां सन् 1980 के बाद भी प्रकाशित होती रहीं। ह.मो. मराठे के निम्नलिखित उपन्यास इस कालखंड में प्रकाशित हुए- 'देवाची घंटा' (80), 'इतिवृत्ति' (82), 'कुरुक्षेत्र' (85), 'सॉफ्टवेअर'। 'रारंग ढांग' में प्रभाकर पेंढारकर ने हिमालय के दूरस्थ प्रदेश का परिवेश उठाते हुए दुर्गम प्रदेश के मानवी संघर्ष का चित्रण किया है। इसी प्रकार डॉ. माल पाटील के उपन्यास तीन तरुण, दो तरुणी आणि एक बंड (1981) में अमरीका के बर्कले विश्वविद्यालय का परिसर कथा-क्षेत्र है। काले-गोरों के बीच संघर्ष की पृष्ठभूमि में मानव समानता के लिए विद्रोह करने वाले युवाओं के आदर्शवादी व्यक्तित्व का इसमें चित्रण है। अनंत सामंत के उपन्यास 'एम. टी. आयवामारू (1989) में कथा हांगकांग के समुद्र किनारे से शुरू होती है और चीन व फिलीपीन्स के सागर को पार करते हुए जहाज आगे बढ़ता है। नीचे लहराता महासागर, ऊपर नीला आकाश पंचभूतों का भयंकर विनाशकारी उत्पात, मनुष्य की ईर्ष्या और घृणा- एक अलग ही दुनिया पाठकों के सामने आती है।

विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान ने मानव जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। उपन्यासकारों के लिए एक चुनौती है कि वे इस दिशा की ओर बढ़ें। जयंत नार्लीकर ('वामन परतुनी न आला' एवं 'प्रेषित'), लक्ष्मण लोंढे ('देवासी जीवे मा रीले'), अरुण साधू ('स्टोट') आदि लेखकों ने इस चुनौती को स्वीकार कर विज्ञान-कथा की ओर कदम बढ़ाया।

व्यंकटेश माडगुलकर मराठी के प्रथम आंचलिक कथाकार हैं। उन्होंने ग्राम्य जीवन को रोमानी नजरिए से नहीं देखा। उन्होंने देखे और भोगे हुए यथार्थ का चित्रण किया है किंतु हिंदी के फणीश्वरनाथ रेणु के समान कल्पना शक्ति उनके पास नहीं है।

सन् 1975 के बाद के जीवन यथार्थ में बहुत तीव्र गति से परिवर्तन घटित हुए हैं। भूमंडलीकरण, मुक्त अर्थव्यवस्था, वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्षेत्र में बढ़ती प्रतियोगिता, पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रदूषण समस्या, संचार साधनों में तीव्र बदलाव एवं व्यापक प्रसार, राजनीति का अपराधीकरण, विज्ञापन एवं भाषणबाजी, वैचारिकता का विघटन जैसी चुनौतियों से जूझने की स्वर्णसंधि उपन्यासकारों के समक्ष है। इस दृष्टि से श्याम मनोहर एवं रंगनाथ पठारे का कृतित्व दूसरों से अलग है। 'हे ईश्वराव हे पुरुषोत्तमराव', 'शीतयुद्ध सदानंद' और 'कल' श्याम मनोहर के इन उपन्यासों में अलग किस्म के मानव स्वभाव एवं अस्तित्व का आकलन हुआ है। यह आकलन विखंडनात्मक ढंग का है। इस पद्धति से अपरिचित होने के कारण मराठी पाठक चकरा जाता है। लेखक का आग्रह है कि पाठक उसकी कृति को सरसरी निगाह से न देखे, जिस बुनियादी सवाल से वह उलझ रहा है, उससे पाठक भी उलझने का कष्ट करें। इस कालखंड में रंगनाथ पठारे के निम्नलिखित उपन्यास प्रकाशित हुए हैं- 'दिवे गेलेले दिवस', 'रक्ष', 'चक्रव्यूह', 'हारण' और 'ताम्रपट' समकालीन मराठी उपन्यास साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियां हैं। अस्सी के दशक के महत्वपूर्ण लेखक रवीन्द्र शोभणे के 'कोंडी' (1998), 'चिरेबंद' (1995), 'उत्तरायण' (2001), 'पडघम' (2007), 'पांढर'(2009), 'अश्वमेध' (2015)आदि उपन्यास प्रकाशित हुए है।

80 के दशक में उपन्यास लेखन में महिलाएं भी पीछे नहीं हैं। 'टिकली एवं ढंतल' (निर्मला देशपांडे), 'मृगज सुष्टी' एवं 'नौका' (सुशीला गोखले पटेल), पद्मिनी राजे पटवर्धन (दीपशिखा), बेघर (शांता निसल), आदिमाया (सुलोचना देशमुख) आदि कृतियां नारी जीवन की गंभीरतापूर्वक थाह लेती हैं।

मराठी उपन्यास में गांधीवाद को संपूर्ण स्वीकार नहीं मिलता। वा. म. जोशी, मामा वरेकर, वि.स. खांडेकर आदि कुछ थोड़े लेखकों पर गांधीवाद का प्रभाव है। मराठी उपन्यास मार्क्सवाद के प्रभाव से नहीं बच पाया। इस प्रभाव के कारण यथार्थ चित्रण को ज्यादा महत्व दिया जाने लगा। फ्रायड के सिद्धांतों का मराठी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। माडखोलकर, पु. स. देशपांडे, गंगाधर गाडगिल, जयवंत दलवी, भाऊ पाध्ये आदि पर मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव है।

मराठी साहित्य ने हिंदी साहित्य को प्रभावित किया है। नारी-चेतना एवं दलित-चेतना का उभार मराठी साहित्य के प्रभाव से ही हिंदी में आया। हिंदी के प्रेमचंद ने मराठी साहित्य को प्रभावित किया है। मराठी साहित्य हिंदी में और हिंदी साहित्य मराठी में अनूदित हो रहा है। अनुवाद ने भाषाओं के बीच सेतु निर्मित किया है। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 58

उदारीकरण के बाद का बांग्ला कथा साहित्य

■ कृपाशंकर चौबे
साहित्य समीक्षक

महाश्वेता देवी की कथाकृतियों में सहज-संतुलित मुद्रा और बात को जस की तस कह देने की क्षमता और उनकी अवलोकन शक्ति न केवल पैनी और अंतर्गामी है, बल्कि आसपास के सारे ब्योरों को भी अपने में समेट लाती है। उन्होंने भाव और अंतर्वस्तु के साथ शिल्प व कथा की नई जमीन बनाई।

बीसवीं शती के अंतिम दशक तथा इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभिक पंद्रह वर्षों में बांग्ला में प्रकाशित उपन्यासों तथा कहानी संग्रहों से यह पता चलता है कि बांग्ला साहित्य कहां खड़ा है, वह किधर जा रहा है। आज का बांग्ला कथा साहित्य भयावह यथार्थ के सामने खड़ा है। उदारीकरण, देश-दुनिया को बाजार में तब्दील करने की अकुलाहट, हिंसा, उन्माद, विद्वेष, दलितों व अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न, हाशिए पर ढकेला गया अंतिम मनुष्य, युद्ध की छाया, क्षेत्रीयता, धर्म, नस्ल व रंग के आधार पर विभाजन, सत्ता का फासीवादी चरित्र, आधुनिक जीवन की जटिलता, मनुष्य और मनुष्य के बीच बढ़ती दूरी आधुनिक बांग्ला कथा साहित्य के दृश्य में हैं। समकालीन बांग्ला कथा साहित्य शोषितों, उत्पीड़ितों और अंतिम मनुष्य के पक्ष में है। नवारुण भट्टाचार्य के उपन्यास 'कांगाल मांसाट', 'हरबर्ट', 'भोगी', 'आटो' और 'युद्ध परिस्थिति' तथा उनकी कहानियों के संग्रह 'नवारुण भट्टाचार्येय गल्प' में फासीवाद-साम्राज्यवाद-बाजारवाद यानी मनुष्यविरोधी ताकतों के विरुद्ध ही प्रतिरोध की संस्कृति को रोपा गया है। बांग्ला के कथा साहित्य में 1991 के बाद के परिवर्तनों को जिन दूसरे उपन्यासों के आईने में भी साफ-साफ देखा जा सकता है, उनमें कुछ प्रमुख हैं- 'एक-एक टा दिन अन्य रकम' (सुनील गंगोपाध्याय), 'उत्ताल समयेर इतिकथा' (प्रफुल्ल राय), 'आदिम अंधकारे अर्जुन' (समरेश मजुमदार), 'टाका' (जय गोस्वामी), 'आदरेर दाग रानूर रवि' (रंजन बंद्योपाध्याय), 'से काव्य अनेक' (रविशंकर बल), 'मालती माधरेर काहिनी' (अमर मित्र), 'चारपाशेर मानुष' (देवर्षि सारगी), 'मयदान' (शेखर मुखोपाध्याय), 'खोला हावा' (कमल कृष्ण मल्लिक), 'सोनाली आर्किड' (सुकांत गंगोपाध्याय), 'घरे फेरा' (सिराज बागची), 'परिशोध' (प्रांतिक चक्रवर्ती), 'बुनोहांस' (समरेश मजुमदार), 'आपरेशन सिंहदुआर' (प्रचेत गुप्त), 'भालोबासार माटी' (विभास राय चौधुरी) एवं 'रक्तरंगन' (विपुल दास)। इसके अलावा अन्नदाशंकर राय के 'सत्यासत्य' उपन्यास-छह खंड) और 'क्रांतिदर्शी' (उपन्यास-चार खंड) में समाज के द्वंद्व व संघर्ष, जुगुप्सा व लिप्सा को पात्रों के माध्यम से एक नया प्रस्थान प्रदान किया गया है तो आशापूर्णा देवी रचनावली के अधिकतर उपन्यासों में यह सवाल शिद्दत से उठाया गया है कि आदमी और आदमी के बीच इतनी फांक क्यों है? समाज में असमानताएं क्यों हैं? मुट्ठीभर ताकतवर लोगों पर यह धुन क्यों सवार है कि वे दुनिया पर राज करें?

महाश्वेता देवी की कथाकृतियों में सहज-संतुलित मुद्रा और बात को जस की तस कह देने की क्षमता और उनकी अवलोकन शक्ति न केवल पैनी और अंतर्गामी है, बल्कि आसपास के सारे ब्योरों को भी अपने में समेट लाती है। उन्होंने भाव और अंतर्वस्तु के साथ शिल्प व कथा की नई जमीन बनाई। नवनीता देवसेन के उपन्यास 'सीता से शुरू' को लें तो वह विविध कथाओं का कोलाज है। उसका एक छोर पौराणिक काल से बंधा है तो दूसरा मातृसत्तात्मक परिवार से और आखिरी छोर उदारीकरण के बाद बने आधुनिक मूल्यबोध से। नवनीता ने अखंड कालक्रम में सांस लेती स्त्री के अनंत दुःख, शाश्वत शख्सियत और समकालीन जटिलताओं की राह पर उसकी अभियान कथा को वाणी दी है। 'सीता से शुरू' की गई यात्रा, वर्तमान युग में आधुनिक स्त्री को अपने ही कठघरे में ला खड़ी करती है। यह कथाकृति स्त्री के अंतर्मन और जीवन का बयान है।

सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यास 'समग्र' के बारह खंड निकल चुके हैं। उनके अधिकतर

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 59

उपन्यासों में गरीबी और दारिद्र्य का कारुणिक चित्रण मिलता है। उदारीकरण के बाद यह गरीबी और दारिद्र्य और बढ़ी है। सुनील दा ने बंगाल के अनेक महापुरुषों को भी अपनी कथाकृतियों में पात्र बनाया और खामखां विवाद मोल लिया।

बांग्ला को कई कालजयी उपन्यास देने वाले शंकर ने 'वित्त वासना' जैसे उपन्यास में बाजारीकरण का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया है। सत्तर औपन्यासिक कृतियों के रचयिता शीर्षेंदु मुखोपाध्याय अपनी कथाकृतियों में जोर देकर कहते हैं कि धर्म के राजनीतिकरण, फासीवाद में भरोसा करने वाले धर्म के असली शत्रु हैं। जो सच्चा धार्मिक होगा, वह सब धर्मों को समान समझेगा। धर्म सही अर्थों में मनुष्य-मनुष्य के बीच के अंतर को मिटाता है, सुसंस्कारित करता है। लेकिन बांग्ला लेखक सलाम आजाद की अलग राय है। सलाम आजाद के उपन्यासों- 'शर्मनाक' और 'टूटा मठ' में सांप्रदायिक उत्पीड़न के शिकार निरीह लोगों के जीवन संघर्षों का मार्मिक चित्रण किया गया है।

कहना न होगा कि आज सबसे बड़ी चिंता दुनिया में हर जगह बहुसंख्यक द्वारा अल्पसंख्यक का सांप्रदायिक उत्पीड़न है। कहीं भी सांप्रदायिक उत्पीड़न के शिकार निरीह लोग हैं। फासीवाद के कई विकृत चेहरे हैं। सलाम आजाद के उपन्यास 'शर्मनाक' और 'टूटा मठ' फासीवाद की मार खाए लोगों को लेकर ही लिखा गया है। यही काम 'लज्जा' उपन्यास में भी रचनाकार ने किया है। 'लज्जा' की लेखिका तसलीमा नसरीन को धार्मिक कट्टरता के विरोध की कीमत देश निर्वासन के रूप में आज भी चुकानी पड़ रही है।

रामकुमार मुखोपाध्याय के उपन्यास 'भांगा नीड़ेर डांगा' और 'धनपति सिंघल यात्रा', 'चारोणेर प्रांतरे' और 'मिछिलेर पोरे' में भी उदारीकरण के नतीजों की छाया है। उनकी रचना 'भवदीय नगर चंदर' में चिट्ठी लिखी जाती है गांव से, केंद्रीय मंत्रियों से लेकर चुनाव आयुक्त तक वह चिट्ठी लिखी जाती है पर नतीजा सिफर रहता है। उनकी कहानियों में सारे स्थापित ढांचों का अतिक्रमण किया गया है। मादले नतून बोल, रामकुमार मुखोपाध्यायेर छोटो गल्पो, परिक्रमा, शंखो, ज्येष्ठ घुघु किंबा मानुष, रामकुमार मुखोपाध्यायेर श्रेष्ठ गल्प, प्रियंकार छेले, यात्रा, दसटि गल्प जैसे कहानी संग्रहों में ऐसे पात्र हैं जो गृहत्यागी हैं, सामाजिक पहनावा छोड़कर वैष्णव बने हैं, घर-घर जाकर भिक्षा मांगते हैं और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाने के क्रम में पंचायत या विधानसभा चुनाव में वोट भी डाल आते हैं। ऐसे भी पात्र हैं जो जोतदार-बटाईदार के संघर्ष में हिस्सा लेते हैं। जोतदार के हाथ से बंदूक छीनने के कारण डेढ़ साल विष्णुपुर जेल में सजा काटनेवाले पात्र भी हैं। इन्हीं चरित्रों के बीच रामकुमार मुखोपाध्याय बांकू चांद, किष्ट दास, गोपा अथवा ठाकुरदास का संधान कर लेते हैं। इसी संधान और किस्सागोई की खास शैली के कारण रामकुमार मुखोपाध्याय अपने समय की त्रासदी का साहसी प्रतिमान रच पाए हैं। जय गोस्वामी ने काव्य उपन्यास 'जारा वृष्टि ते भीजे छिलो' और 'सेई सब छेलेरा', 'सुरंग व प्रतिरक्षा', 'सब अंधकार फूल गाछ', 'ब्रह्मराक्षस', 'दादा भाईदेर पाड़ा' समेत दस से अधिक उपन्यास भी लिखे हैं। उदारीकरण के कारण संबंधों में आ रही फांक को अपने उपन्यासों में जय गोस्वामी ने शब्दों से भरा है। शब्द जय गोस्वामी के लिए जलवायु की तरह हैं।

बांग्ला के कथा साहित्य में संप्रति चार पीढ़ियों-ज्येष्ठ, मझली, कनिष्ठ व युवतर पीढ़ी के सौ से ज्यादा लेखक सक्रिय हैं। बांग्ला कथा लेखकों की सृजन-सक्रियता और उनकी रचनात्मक ऊर्जा उतनी ही चकित करती है, जितनी पाठकों की जागरूकता व प्रतिबद्धता यह एहसास कराती है। बांग्ला कथा लेखकों की रचनात्मक निरंतरता से यह भी साबित होता है कि उनके पाठकों की पठनवृत्ति में भी निरंतरता है।

बांग्ला के कथा साहित्य में संप्रति चार पीढ़ियों-ज्येष्ठ, मझली, कनिष्ठ व युवतर पीढ़ी के सौ से ज्यादा लेखक सक्रिय हैं। बांग्ला कथा लेखकों की सृजन-सक्रियता और उनकी रचनात्मक ऊर्जा उतनी ही चकित करती है, जितनी पाठकों की जागरूकता व प्रतिबद्धता यह एहसास कराती है। बांग्ला कथा लेखकों की रचनात्मक निरंतरता से यह भी साबित होता है कि उनके पाठकों की पठनवृत्ति में भी निरंतरता है। यह निरंतरता यह साबित करती है कि शब्द सारथियों की यात्रा से बांग्ला पाठकों का जुड़ाव कितना आंतरिक और गहरा है। बांग्ला पाठक बराबर अपने उद्वेग, क्रोध, हताशा, आशा के साथ लेखक को देखता है (लेखक भी नि:संदेह पाठक को देखते हैं)। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 60

समीक्षा

मेरे मरने से मेरे अशआर नहीं मर सकते

■ **शंभुनाथ मिश्र**
युवा समीक्षक

संपर्क : के-2, महानदी एक्स्टेंसन, इग्नू कैंपस, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068

पुस्तक: जिधर से गुजरा हूं गुलाम रब्बानी ताबां की समग्र शायरी
संपादक: दुर्गा प्रसाद गुप्त
प्रकाशक: शिल्पायन, दिल्ली
मूल्य: ₹500

गुलाम रब्बानी ताबां उर्दू की तरक्कीपसंद शायरी में एक जाना-पहचाना नाम है। ताबां बीसवीं शताब्दी के उन चुनिंदा शायरों में हैं जिन्होंने आजीवन अपनी शायरी में औपनिवेशिक सत्ता और संस्कृति का प्रतिरोध, गैरबराबरी के खिलाफ संघर्ष और शोषणकारी समाज व्यवस्था के खात्मे की कामना की। एक सामंती जमींदार परिवार में पैदा होने के बावजूद अपनी सृजनात्मकता, चिंतन प्रक्रिया और जीवन व्यवहार में उन्होंने जिन उच्च मानवीय मूल्यों का सृजन किया, उसे उनकी कविता में बखूबी देखा जा सकता है। उर्दू गजल की क्लासिकल शैली 'रोमानियत' के बीच से इंकलाबी स्वर की बुलंदी के हुनर को ताबां ने अपनी नज्मों और गजल के जरिए पैदा किया। उर्दू अदब की दुनिया में अपनी अलहदा पहचान वाले इस शायर से हिंदी के लोगों का किंचित कम परिचय रहा है। इसके पीछे एक तो हिंदी-उर्दू अदब के बीच धीरे-धीरे कायम हुई दूरी है और दूसरी लिप्यंतरण और समुचित संपादन की कमी।

सुपरिचित आलोचक और कवि दुर्गाप्रसाद गुप्त के संपादन में गुलाम रब्बानी ताबां की समग्र शायरी पर 'जिधर से गुजरा हूं' शीर्षक पुस्तक का प्रकाशन हिंदी-उर्दू अदब और खासकर कविता के क्षेत्र में आपसदारी की समझ बढ़ाने के लिहाज से एक महत्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। दुर्गा प्रसाद गुप्त हिंदी-उर्दू कविता के अच्छे जानकार हैं और इनके अंत:संबंध पर गंभीरतापूर्वक काम करते रहे हैं। पुस्तक की संक्षिप्त मगर अर्थपूर्ण भूमिका के जरिए यह साफतौर पर पता चलता है कि तरक्कीपसंद कविता और उसके आलोचनात्मक विवेचन में संपादक की विशेष रुचि है।

उर्दू की क्लासिकी शायरी से गहरा जुड़ाव रखते हुए, उसकी रोमानियत, भाव-प्रवणता, गहन भावकुलता, इंकलाबी जोश और भाषा की सूक्ष्म और महीन बुनावट को ग्रहण कर ताबां ने अपनी गजल को समृद्ध किया। 'मुक्ति की कामना' ताबां की शायरी का केंद्रीय भाव है। हर जगह, हर कदम पर मुक्त होने की एक गहरी छटपटाहट उनकी शायरी में देखी जा सकती है। उर्दू शायरी के रोमान में घुला ताबां का इंकलाबी स्वर उनके संघर्ष और मुक्ति के स्वप्न को यथार्थ में परिवर्तित करने की जद्दोजहद करता दिखाई देता है।

बीसवीं शताब्दी मूलत: संघर्ष और चेतना के केंद्र में परिवर्तन की शताब्दी रही है। स्वाधीनता एक बड़े जीवन मूल्य के तौर पर स्थापित हो चुकी थी, और हिंदी-उर्दू की प्रगतिशील कविता के लिए यह केंद्रीय विषयवस्तु के रूप में विकसित हो चुकी थी। दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए तीसरी दुनिया के तमाम देशों के लिए मुक्ति के स्वप्न और संघर्ष के जज्बे का ऐतिहासिक महत्व था। ताबां की शायरी इस जज्बे को संभालने का फन पैदा कर चुकी थी। समीक्ष्य पुस्तक के संपादक ने ताबां की शायरी के जेहन को समझने की कोशिश करते हुए भूमिका में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है- 'बीसवीं शताब्दी आंदोलनों, संघर्षों और मुक्ति की शताब्दी थी। ताबां इस शताब्दी के शायर थे। इस सदी में मनुष्य ने अपने आदर्शों और विचारों को ध्यान में रखते हुए मानवता के लिए जो त्याग और बलिदान दिए, प्रतिरोध का इतिहास रचा, शायद ही किसी अन्य शताब्दी में यह संभव हुआ हो। इसलिए बीसवीं शताब्दी की दुनिया के अदब का इंकलाबी होना लाजिमी था और इस मायने में उर्दू अदब काबिलेतारीफ है। उसका तरक्कीपसंद अदब बीसवीं शताब्दी का ही नहीं बल्कि अदब के भावी इतिहास का भी नायाब धरोहर है। ताबां उसी अदब के तरक्कीपसंद प्रतिनिधि शायर हैं।'

सन् 1950 में प्रकाशित अपने पहले नज्मों के संग्रह और कुल चार गजल संग्रहों के जरिए ताबां ने मनुष्य के दु:ख-दर्द, शोषण, गुलामी और मुक्ति की कामना के स्वप्न को अपनी रचनात्मकता में ढाला। 'साजे-लरजा'(1950) उनका पहला संग्रह है। उसके बाद

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 61

शाया हुए उनके चार गजल संग्रहों- 'हदीस-ए-दिल' (1960), 'जौक-ए-सफर'(1970), 'नवा-ए-आवारा'(1976) और 'गुबार-ए-मंजिल'(1990) के जरिए उनकी चार दशक से लंबी काव्य-यात्रा के सृजनात्मक विकास को समझा जा सकता है। चाहत, मुहब्बत, इश्क, रोमन उर्दू की रिवायती शायरी के पसंदीदा विषय रहे हैं। ताबां की शायरी भी इनसे खुलकर गले लगी है, लेकिन बिल्कुल अलग लहजे में।

उर्दू की पुरानी शायरी का जिक्र करते हुए पुस्तक में संकलित 'साजे-लरजा' की भूमिका में कृशन चंदर ने लिखा है कि 'यहां चाहत को एक ऐसा जज्बा समझा जाता है जो एक इंसान और एक शय के बीच होता है, एक इंसान और एक इंसान के बीच नहीं। ताबां ने बहुत जल्द और बड़ी होशियारी से इस पुरानी रिवायती शायरी से नजात पा ली।' ताबां ने अपने गम की लज्जत के बजाय समाज के गम को ज्यादा अहम समझा। जब उन्होंने व्यक्ति को समाज के साथ जोड़कर देखा तो समाजी सऊर का रास्ता बहुत साफ नजर आया। स्पष्ट था कि जो समाज का गम है छोटे पैमाने पर वही व्यक्ति का भी गम है। जब तक समाज के दुख-दर्द को दूर नहीं किया जाएगा, तब तक अपने जज्बाती गम के दर्द को दूर करने का कोई मतलब नहीं है।

समीक्ष्य पुस्तक 'जिधर से गुजरा हूं' केवल ताबां की शायरी का संग्रह भर नहीं है। गुलाम रब्बानी ताबां के पांचों संग्रहों के लिप्यंतरण के साथ कृशन चंदर, अब्दुल्लाह वली बख्श कादरी, डॉ. नगेंद्र, प्रकाश पंडित की लिखी प्रस्तावनाएं और गुलाम रब्बानी ताबां की खुद लिखी दो भूमिकाएं चयनित कर संपादक ने इस किताब को संपूर्णता प्रदान की है, साथ ही गुलाम रब्बानी ताबां की शायरी को समझने की ख्वाहिश रखनेवालों के लिए हिंदी में अच्छी किताब की कमी को भी पूरा किया है। पुस्तक के अंत में संपादक दुर्गा प्रसाद गुप्त का लिखा संस्मरणात्मक आलेख 'भूले तो यूं कि गोया कभी आशना न थे', इस किताब का एक बड़ा आकर्षण है। ताबां की शायरी, उनकी जिंदगी, उनके संघर्ष, विचारधारा, जीवन दर्शन और खूबसूरत शख्सियत के कई आयामों को छूता यह आलेख पाठक को अपने साथ बांध लेता है।

अमृता शेरगिल की एक कलाकृति

शोषणकारी व्यवस्थाएं किसी दौर विशेष की पैदाइश नहीं होतीं। जितना पुराना इतिहास मानवता का है, शोषण, पीड़ा और जुल्मतों का इतिहास उससे कम पुराना कतई नहीं है। शोषण का यह दुश्चक्र कभी साम्राज्यवादी ख्वाहिशों के पीछे आकार ग्रहण करता है तो कभी पूंजीवाद, छद्म विकास और ग्लोबलाइजेशन के भ्रमात्मक नारों की आड़ में। गोया कि जब तक जनता की प्रतिरोधी चेतना जागकर इनके खिलाफ लामबंद न हो जाए, तब तक इनके जाल में फंसे रहने को अभिशप्त हो जाती है। अपने-अपने दौर की इन मनुष्यता विरोधी व्यवस्थाओं के खिलाफ कविता ने सदैव आवाज बुलंद की है।

बीसवीं शताब्दी के संघर्ष पिछली शताब्दियों से किसी मायने में कमतर न थे, बल्कि मनुष्यता विरोधी व्यवस्थाएं अपने सर्वाधिक विकसित और खतरनाक रूपों में शाया हो रही थीं। उर्दू में एक तरफ मजाजी और रोमानियन की शायरी अपने लहजे में इसका विरोध कर रही थी तो दूसरी ओर इंकलाबी, तरक्कीपसंद शायरों की जमात अपना परचम बुलंद कर रही थी। मजाज, फैज, मजरूह सुल्तानपुरी, गुलाम रब्बानी ताबां, अली सरदार जाफरी, वामिक जौनपुरी जैसे शायरों ने मनुष्यता विरोधी विचारों और व्यवस्था का अपनी शायरी के जरिए पुरजोर विरोध किया। कविता के जरिए मनुष्यता के स्वप्न को जीने और उसके जीवनराग को सहेजने की कोशिश ताबां की शायरी में लगातार मिलती है। गुलाम रब्बानी ताबां अपने दौर के दूसरे तरक्कीपसंद शायरों से कुछ अलहदा इंकलाबी लहजा रखते थे। इन्होंने उर्दू की रवायती शायरी से गहरा लगाव रखते हुए भी, अपने जोशीले, तीव्र और ओजस्वी लहजे के साथ नर्म-कोमल भावों की

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 62

जो जुगलबंदी पेश की, वह उर्दू की तरक्कीपसंद शायरी में विरल है।

अपनी शायरी के बारे में ताबां ने 'गुबार-ए-मंजिल' की भूमिका में लिखा- 'पहले भी कई बार कह चुका हूं कि फिल-जुमला मैं अपनी नज्मों से मुतमईन नहीं था। 1950 के बाद करीब-करीब शेर कहना तर्क कर दिया और क्लासिकी अदब का मुतअला करता रहा... मैं तरक्कीपसंद हूं। तरक्कीपसंद किसी मखसूस सिंफ-ए-सुखन तक महदूद नहीं। वह तो नाम है इक अंदाज-ए-फिक्र, एक नजरिए का, जिसका शेरी इजहार (शेयरी इजहार) नज्म और गजल दोनों में किया जा सकता है।' गुलाम रब्बानी ताबां ने नज्मे मुअर्रा (अतुकांत कविता) और आजाद नज्म (मुक्त छंद) दोनों में अच्छी नज्में लिखी हैं।

रोमान उर्दू शायरी का पसंदीदा भाव रहा है, जो कि ताबां की शायरी में आकार 'इंकलाब के रोमन' के रूप में नए अर्थ ग्रहण करता है। इंकलाब के रोमान की ताबां की शायरी में बहुत खूबसूरत पेशकश देखी जा सकती है। 'साजे-लरजा' की यह नज्म बहुत ही लोकप्रिय है, जिसमें रोमानियत का ख्याल स्वाधीनता की चेतना से संपृक्त होकर अपने अंदर के इंकलाब को जाहिर करता है-

वो माथे पर बिंदी फलक पर सितारा
वो आरिज कि आईना-ए-माहताबी
वो बातों में सावन की रातों का आलम
वो साड़ी का आंचल गुलाबी -गुलाबी
लबे अहमरी पर वो आजाद नारे
वो नाजुक से हाथों में परचम शहाबी।

ताबां एक स्वप्नद्रष्टा शायर हैं। उनकी शायरी आने वाले वक्त की एक खूबसूरत, स्वाधीन और शोषणमुक्त दुनिया का स्वप्न पालती है। एक ऐसी भविष्य की दुनिया का स्वप्न, जिसके शाया हो जाने के बाद कोई मजबूर, बेसहारा अपने मजलूमियत पर आंसू बहाते रहने को अभिशप्त नहीं होगा-

'शहर होने को है ख्वाबीदी फितरत जाग उठेगी
जवानी जाग उठेगी, मुहब्बत जाग उठेगी
किसी मज़बूर की आंखों में आंसू जाग जाएंगे
किसी मायूस के सीने में हसरत जाग उठेगी।'

बीसवीं शताब्दी मूलतः संघर्ष और चेतना के केंद्र में परिवर्तन की शताब्दी रही है। स्वाधीनता एक बड़े जीवन मूल्य के तौर पर स्थापित हो चुकी थी, और हिंदी-उर्दू की प्रगतिशील कविता के लिए यह केंद्रीय विषयवस्तु के रूप में विकसित हो चुकी थी। दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए तीसरी दुनिया के तमाम देशों के लिए मुक्ति के स्वप्न और संघर्ष के जज्बे का ऐतिहासिक महत्व था।

सहर यानि स्वाधीनता एक लंबे समय से देखा गया स्वप्न था। लेकिन उसके साकार होते ही नीतिगत अव्यवस्था के चलते मोहभंग भी शुरू हो गया। तेजी से बदलती राजनीति स्थितियों, परिवारवाद, अवसरवाद और जनविरोधी ताकतों की राजनीतिक सक्रियता ने आजादी से मोहभंग को संबल दिया। ताबां की शायरी इन परिस्थितियों को उनके नग्न रूप में सामने लाती है, लेकिन इस निराशाजनक घटाघोप के बीच भी अपने खूबसूरत स्वप्न को एक कोने में कहीं जिलाए रखती है।

ताबां फैज की तरह केवल 'ये दाग दाग उजाला ये सबगजीदा सहर / वो इंतजार था जिसका ये वो सहर तो नहीं।' कहकर निराश नहीं होते। उन्हें अब भी यकीन है कि मनुष्य के बलिदान और संघर्षों से एक दिन वो दौर भी जरूर आएगा, जिसका संपूर्ण मानवता को बेसब्री से इंतजार है। जिस सहर की वो राह तक रहा है वो कभी न कभी जरूर आएगी। यानी -

'सहर पयामे ऐशो निशानी लाई
शायर की आंख लेकिन कुछ सोचकर भर आई
इसकी नजर में जेहने इंसा की जुल्मतें थीं
उसकी नजर में बातिल इरफा की जुल्मतें थीं
शायर उफुक की जानिब रह-रह के देखता था
इक और ही सहर की वो राह तक रहा था।

इसी भाव को एक अलग शेर में भी देख सकते हैं-

'अब भी वही है गम का चलन दर्द का रिवाज
कमबख्त कल के बोझ के नीचे पड़ा है आज'

ताबां की शायरी में एक गहरी ऐतिहासिकता, एक सूक्ष्म और स्पष्ट इतिहासबोध साफ दिखाई देता है। इसका जिक्र 'साजे-लरजा' की भूमिका में कृश्नचंदर ने भी किया है। 'साजे-लरजा' में ही संकलित उनकी नज्मों इंतिकाम, इंडोनेशिया, फतेहपुर सीकरी, एशिया और 15 अगस्त 1947 में देश की गुलामी, उसके कारणों और केवल भारत ही नहीं बल्कि उपनिवेश ग्रस्त समूची तीसरी दुनिया के दर्दो-गुबार की सूरत पर शायर के दिल में गहरा रोष पल रहा है-

तबाहियों की गोद में पले हुए किसान से
कि जंगे इंकलाब के सिपाही नौजवान से
गरीब-ओ-नातवान से नहीं-नहीं
ये सब मेरे अजीज हैं, ये सब मुझे अजीज हैं
मैं किससे इंतिकाम लूं।'

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 63

'इंडोनेशिया' नज्म में जुल्मतों के खिलाफ तल्ख लहजा और क्रांतिकारी चेतना की बाआवाज पेशकश उनकी इंकलाबी शायरी का एक नमूना भर नहीं है बल्कि उनके जीवन दर्शन का एक जीवंत हिस्सा है, जिसे उपनिवेशवादी तंत्र के लगातार विरोध के जरिए उन्होंने अर्जित किया था–

आज जुल्मत के फसीलों को निगूंसर कर दें !

'मिटा डालें कि हल्का सा निशां भी न रहे!

शिया आज है इक महसबे-संगीन-ओ-वसीअ!

एशिया रश्के-गुलिस्तां हो जाए!!

एशिया शम्मे-शबिस्ता हो जाए!!

एशिया जामिने-आजादी-ए-इंसा हो जाए!!!'

'साजे-लरजा' उनकी नज्मों का पहला और आखिरी संग्रह है। इसमें उनकी पहले दौर की सागरो-मीना में डूबी और रंगीन मिजाजी की रूमानी नज्में भी संकलित हैं। ताबां उर्दू की रवायती इश्क-मुहब्बत की शायरी से भी कभी दूर नहीं भागे। खासकर उनकी नज्में तो इसमें एक से बढ़कर एक हैं। इंसानी रिश्तों की गरमाहट और उसके सुकून का भी ताबां ने अपनी शायरी में खूब लुत्फ उठाया। कह सकते हैं की उर्दू शायरी के पुराने सांचे में उन्होंने नए भावों को पिरोया। नए बिंब और प्रतीकों के जरिए अपनी बात कही। तरक्कीपसंद शायरी के साथ-साथ उर्दू की क्लासिकी शायरी में उनकी सिद्धहस्तता ने ही गजल के एक विश्वस्त और मशहूर शायर के रूप में उनकी हैसियत को सर्वमान्य बनाया।

ताबां की शायरी की यह खूबी है कि उसमें भाषिक चमत्कार या नारेबाजी के जरिए प्रसिद्धि पाने की ललक नहीं दिखती। ताबां की शायरी की खूबी है उनकी गहरी चिंतनपरक दृष्टि, जो उनकी रूमानी और इंकलाबी, दोनों तरह की शायरी का आधार है। उन्हें सीधे पाठक या श्रोता से संवाद की भाषा बहुत रास आती है। उनके पास गुफ्तगू का एक खूबसूरत सलीका है, जो ताबां के लिए भी बहुत मायने रखता है। उन्होंने

ताबां की शायरी में एक गहरी ऐतिहासिकता, एक सूक्ष्म और स्पष्ट इतिहासबोध साफ दिखाई देता है। इसका जिक्र 'साजे-लरजा' की भूमिका में कृश्नचंदर ने भी किया है। 'साजे-लरजा' में ही संकलित उनकी नज्मों में देश की गुलामी, उसके कारणों और केवल भारत ही नहीं बल्कि उपनिवेश ग्रस्त समूची तीसरी दुनिया के दर्दो-गुबार की सूरत पर शायर के दिल में गहरा रोष पल रहा है।

खुद कहा है–

'वो गुफ्तगू का सलीका भी चाहिए ताबां

कि बात दिल में उतार जाए नेश्तर की तरह।'

जिंदगी को लेकर उनके तजुर्बात बहुत ही तल्ख मगर सच्चे थे। अपनी-अपनी जिंदगी की गाड़ी को हांफते हुए खींच रहे लोगों के लिए उनकी शायरी में गहरी सहानुभूति दिखती है–

'किसको पड़ी है कौन बटाए किसी का गम

अपनी सलीब आप उठाए हुए हैं हम

या इसी भाव का एक और शेर जो बहुत ही मानीखेज है–

गम हाय रोजगार से फुर्सत कहां मुझे

अच्छा है भूल जाएं मेरे मेहरबां मुझे।'

इसे साहित्यिक खेमेबंदी का नतीजा ही कहा जाएगा कि जहां एक-से-एक साधारण शायरों पर उर्दू के नक्कादों ने खूब पन्ने भरे, वहीं गुलाम रब्बानी ताबां की शायरी पर बहुत ही कम लिखा गया।

उर्दू साहित्य के इतिहास की किताबों में कुछेक टिप्पणियों और चंद शेरों को छोड़कर ज्यादा कुछ नहीं दर्ज किया गया है। हिंदी में तो खैर बहुत ही कम लोगों तक पहुंच पाई है। हिंदी में ताबां के संग्रह 'हदीस-ए-दिल' का लिप्यंतरण हुआ था, जिसकी भूमिका डॉ.नगेंद्र ने लिखी। नगेंद्र की इस भूमिका को इस किताब में संकलित किया गया है। 'जहां से गुजरा हूं' को पढ़ते हुए दरअसल हम ताबां की जिंदगी के कई अंजाने पहलुओं और उनकी शायरी के समग्र से भी गुजर रहे होते हैं। ताबां साहब केवल किताबी शायर भर नहीं थे, बल्कि मनुष्य की आजादी के युद्ध में एक प्रतिबद्ध सिपाही भी थे, जिन्होंने अदब की दुनिया में रहकर भी इस लड़ाई में सक्रिय हिस्सेदारी की।

वास्तव में गुलाम रब्बानी ताबां का मूल्यांकन सज्जाद जहीर, राही मासूम रजा, कैफी आजमी, साहिर लुधियानवी और अली सरदार जाफरी जैसे शायरों के समकक्ष रखकर किया जाना चाहिए, जो दुर्भाग्यवश अब तक नहीं हो पाया। गुलाम रब्बानी ताबां की समग्र शायरी, उनकी लिखी प्रस्तावनाओं तथा ताबां की शायरी और जीवन पर संपादक दुर्गा प्रसाद गुप्त के दो महत्वपूर्ण आलेखों ने किताब को बेहद पठनीय बना दिया है। मूलत: उर्दू में उपलब्ध ताबां के संग्रहों का हिंदी में लिप्यंतरण और उनके अर्थ संदर्भों का स्पष्टीकरण एक कठिन और श्रमसाध्य कार्य है। लिप्यंतरण और संयोजन की अनेक व्यावहारिक दिक्कतों के बावजूद प्रगतिशील कविता के अनिवार्य शायर ताबां की शायरी के विभिन्न आयामों से हिंदी पाठकों का परिचय कराने और उनके समग्र को सुरुचिपूर्ण ढंग से हिंदी पाठकों के सामने लाने के लिए दुर्गा प्रसाद गुप्त निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 64

समीक्षा

विमर्शों में कराहता 'गांधी-विमर्श'

■ **मनोज कुमार राय**
प्राध्यापक

संपर्क :
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा-442001

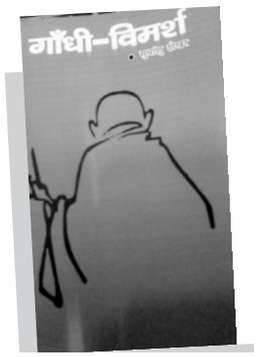

पुस्तक: गांधी-विमर्शे
लेखका: सुधांशु शेखर
प्रकाशक: दर्शना पब्लिकेशन,
प्रकाशन वर्ष: 2015
मूल्य: ₹150

बुद्ध-महावीर के समय से ही भारतीय सभ्यता में त्यागी-तपस्वियों के प्रति आदर-समर्पण का भाव रहा है। इसी परंपरा की एक अभिन्न कड़ी महात्मा गांधी भी हैं। गांधी के जीवन-दर्शन पर सर्वप्रथम उनके अभिन्न मित्र मि डोक और डॉ. मेहता ने कलम चलाया था। डॉ. मेहता ने तो भारतीय राजनीति के उस समय के एक बड़े नेता गोपाल कृष्ण गोखले को लिखा था- 'मुझे लगता है कि जिस किसी को भी अपने देश के लिए काम करने की इच्छा हो तो उसे गांधी और उसके संस्थानों/आश्रमों का अध्ययन करना चाहिए।' तब गांधी दक्षिण अफ्रीका में अपने लोगो के हक और हुकूक की लड़ाई लड़ रहे थे। गांधी-दर्शन पर डोक और मेहता के द्वारा 1907 से शुरू हुआ लेखन आज भी बदस्तूर जारी है।

गांधी पर सुचिंतित अध्ययन-लेखन उनके जीवनकाल में ही शुरू हो गया था। आजादी के बाद भी रचनाकार, समाज वैज्ञानिक, मनोविज्ञानी, कलाकार आदि अपने-अपने तरीके से गांधी को व्याख्यायित भी करते रहें हैं। पर एटनबरो की फिल्म 'गांधी', जिसने कई ऑस्कर अवार्ड भी जीते थे, के आने के बाद तो जैसे गांधी अचानक 'ग्लोबल' हो गए। गांधी-चिंतन के कई पक्ष जो अभी भी अनुछुए थे, उस पर लोगों ने अपनी कलम चलाई। गांधी एक 'अनुशासन' के रूप में उभरकर सामने आए।

दुनिया ने अपनी तमाम समस्याओं से निजात पाने के लिए गांधी की तरफ आशा भरी नजरों से देखना शुरू किया। समीक्ष्य पुस्तक का लेखक भी इससे अछूता नहीं है- 'सवाल चाहे धर्म, राजनीति एवं शिक्षा का हो अथवा प्रौद्योगिकी, पर्यावरण एवं विकास का, सभी का जबाब एक है-'गांधी'! 'गांधी', 'सिर्फ गांधी' और 'गांधी के सिवा कुछ भी नहीं'!!(गांधी-विमर्श, पृष्ठ-10)

लेखक गांधी से गहरे प्रभावित है। इसे हम पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर देख सकते हैं। यह लेखक की ईमानदारी ही है कि उसने अपने 'आत्मकथन' में यह स्वीकार किया है कि- 'इस पुस्तक में प्रस्तुत विचार मुख्यत: गांधी के ही हैं, इसलिए एक तरह से इसका सारा श्रेय उन्हीं को जाता है।'(वही, पृष्ठ 10) वरना आज की पेटेंट प्रिय दुनिया में 'आइडिया' से लेकर 'संस्थान-उत्पाद' तक हर जगह 'यह हमारा है' की होड़ लगी हुई है।

समीक्ष्य-पुस्तक में नए तरीके से अध्यायों का संयोजन किया गया है। प्रत्येक अध्याय में विषय से संबन्धित गांधी के विचार पुन: आलोचना और अंत में निष्कर्ष। एक-दो अध्यायों को छोड़कर सभी अध्यायों में यह क्रम जारी है।

'स्वराज' नामक अध्याय की शुरुआत एक कविता-'मेरा बूढ़ा गांव/आंखों में आंसू लिए रे' से की गई है । बड़ी मार्मिक कविता है। कविता में गांव की बरबादी को बखूबी उकेरा गया है। स्वराज संबंधी गांधी की चिंता उस कविता में हम आसानी से ढूंढ़ लेते हैं।

गांधी को पढ़ने-सुनने का अवसर मुझे भी मिला है। पर मेरे अनुभव कुछ भिन्न किस्म के रहें हैं। सच तो यह है कि 'गांधी' अपने पर कलम चलानेवाले किसी भी लेखक से अंतहीन धैर्य और उदात्त कल्पना की मांग करते हैं। स्वयं उन्होंने अपने जीवन में इस सिद्धांत का पालन किया था । 'जब उनसे (मुझसे) से नहीं रहा गया तभी लिखा'। यह नहीं कि कभी 'पुस्तक मेला' लगनेवाला हो अथवा कोई 'साक्षात्कार-सम्मेलन' नजदीक हो तो झट कलम उठाया और लिख मारा।

आजकल 'संचयन' और 'रचनावली' की बाढ़-सी आई हुई है। जिसे देखिए वही इस प्रक्रिया में अपने को झोंके हुए है। इस तरह के लेखन-संचयन पर हमारे एक आत्मीय आचार्य वागीश शुक्ल ने एक बार हास्य टिप्पणी करते हुए

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 65

कहा था- 'संचयन में तो पेंसिल की जरूरत भी पड़ती है, रचनावली में तो उसकी भी जरूरत नहीं है।' वस्तुतः रचना-प्रक्रिया में लेखक स्वयं को भूल जाता है। यह एक जटिल और श्रमसाध्य क्रिया है। प्लोतिनस ने इस प्रक्रिया की बड़ी सुंदर व्याख्या की है।

उसने लिखा है- 'बाहर से अपने को खींचकर भीतर ले जाओ और द्रष्टा बनकर वहां जो है, उसे देखो। अगर तुम्हें अंतर्निहित तात्विक सौंदर्य का अनुभव नहीं होता तो मूर्ति को सौंदर्य प्रदान करने के प्रयत्न में लगे शिल्पकार की विधि को अपनाओ। वह छेनी और हथौड़ी से पत्थर को विधिवत तराशते हुए तब तक काम में लगा रहता है,जब तक मूर्ति बन नहीं जाती।'

दरअसल गांधी केवल कलम-दवात-स्याही की वस्तु ही नहीं है। वह तो कुछ और ही हैं। गांधी रुक्मिणी के श्रद्धा रूपी तुलसी दल से तुलने वाले हैं न कि सत्यभामा के हीरे-जवाहरात से। हीरे-जवाहरात से तौलने के भ्रम में ही हम अपना पथ भूल गए हैं। आजकल यह फैशन में आ गया है जब मन किया गांधी को राजनीतिक रूप से दोषी ठहरा दो नहीं तो उनपर भक्तिभाव से कलम चला दीजिए। विमर्शों की इस भागमभाग में परिणाम यह हुआ कि गांधी पर पुस्तकों की बाढ़-सी आ गई। सबसे आसान 'टॉपिक' गांधी ही हो गए।

हर कोई गांधी से दो-दो हाथ करने के लिए तैयार बैठा है। पर यह क्या इतना आसान है? थामसन के शब्दों में देखिए- 'तीन घंटे तक उन्हें छाना गया और उनसे जिरह की गई... यह काफी थका देनेवाली परीक्षा थी। लेकिन वह एक क्षण के लिए भी विचलित या निरूत्तर नहीं हुए। मेरे हृदय में पूर्ण विश्वास जम गया कि परम आत्म-संयम और अनुद्विग्नता के मामले में संसार ने सुकरात के समय से आज तक इनकी टक्कर का पैदा नहीं किया।'

हर कोई गांधी से दो-दो हाथ करने के लिए तैयार बैठा है। पर यह क्या इतना आसान है? थामसन के शब्दों में देखिए- 'तीन घंटे तक उन्हें छाना गया और उनसे जिरह की गई... यह काफी थका देनेवाली परीक्षा थी। लेकिन वह एक क्षण के लिए भी विचलित या निरूत्तर नहीं हुए। मेरे हृदय में पूर्ण विश्वास जम गया कि परम आत्म-संयम और अनुद्विग्नता के मामले में संसार ने सुकरात के समय से आज तक इनकी टक्कर का पैदा नहीं किया।'

सच तो यह है कि गांधी तक पहुंचने का रास्ता ध्यान-मौन-निष्काम कर्म के संकुल से होकर गुजरता है। जो इस रास्ते से गया उसे एक दृष्टि मिली और वह अपने धुन में रम गया। उसे न कलम चलाने की जरूरत पड़ी न विमर्शों में उलझना पड़ा। वह तो 'एकला चलो रे' का पथिक बन एक राह पकड़कर किसी रचनात्मक कार्य की तरफ बढ़ गया। समीक्ष्य पुस्तक के लेखक ने इस ओर इशारा भी किया है-'गांधी विचार या हिन्द-स्वराज 'कहने' से नहीं 'करने' से करीब आयेगा।' (पृष्ठ -135)

'राष्ट्र से लेकर भूमंडलीकरण' तक के तेरह अध्यायों में विभक्त 'गांधी-विमर्श' में वाक्यांशों की भरमार है। आजकल जिन विमर्शों ने अपने घटाटोप में 'संगोष्ठी-कार्यशाला' को घेर रखा है उससे संबंधित तमाम उद्धरण जो गांधी द्वारा समय-समय पर यत्र-तत्र दिए गए हैं, उसे लेखक ने एक जगह प्रस्तुत कर एक श्लाघनीय कार्य किया है। इसे उसने स्वयं स्वीकारभीकिया है- 'गांधी-विमर्श की आवश्यकता एवं उपयोगिता स्वयंसिद्ध है।' (पृष्ठ-10)

समीक्ष्य-पुस्तक लेखक ने 'हिंद स्वराज' की प्रशंसा में जमकर कसीदे गढ़े हैं,पर 'हिंद स्वराज' की ही एक प्रसिद्ध उक्ति 'पहले के लोग कम लिखते थे.....' को नजरंदाज करते हुए 'सृजन-संपादन' का कीर्तिमान रचने की ओर अग्रसर है। इस तरह की रचना 'एपीआई' की पूर्ति के लिए तो ठीक है पर कोई सार्थक अवदान देने में असफल साबित होती है, जो किसी भी रचना की मुख्य प्रतिज्ञा होती है।

'गांधी-विमर्श' के लेखक ने जिन चीजों का अपने लेखन में विरोध किया है उसी का अनुपालन वह करता हुआ दिखता है जो उसके हड़बड़ी और प्रकाशन-लोभ को दर्शाता है। उसने स्वीकार भी किया है कि उसने समय-समय पर 'संगोष्ठी' पत्रिका में अपने प्रस्तुत प्रकाशित लेखों को क्रमवार इकट्ठा कर पुस्तक का रूप दिया है। (पृष्ठ-10) इस तरह की रचना में लेखक की 'धार' थोड़ी कम जाती है। किसी ने कहा है - 'सौंदर्य-प्राण-सर्जन तो तब सामने आता है जब सही बोध क्रियाशील रहता है'। इस सनातन सूक्ति को प्रत्येक लेखक को ध्यान में रखना चाहिए । ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 66

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
अपील

स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय हिंदी के रचनाकारों की अमूल्य सामग्री संग्रहीत करने, उसे सहेज कर रखने और सुधी अध्येताओं व शोधकर्ताओं को उपलब्ध कराने के काम में जुटा है। सूचना मिलने पर सामग्री प्राप्त करने के लिए संग्रहालय अपनी ओर से संपर्क करता है और यदि उसे साहित्यकारों के परिजनों अथवा अन्य सुधी साहित्य सेवियों की ओर से सामग्री प्रदान किए जाने का प्रस्ताव मिलता है, तो उसे सहर्ष स्वीकार भी किया जाता है।

12 मई, 2012 को हिंदी के प्रतिष्ठित कवि शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश सामग्री डॉ. रंजना अरगड़े ने संग्रहालय को प्रदान कर दी है, लेकिन शमशेर जी अपने जीवन काल में अनेक स्थानों पर रहे थे, अतः यह संभव है कि शमशेर जी ने अपनी कोई कविता, पेंटिंग या अन्य कोई सामग्री आप में से किसी को भेंट स्वरूप दी हो। यह भी संभव है कि शमशेर जी के जीवन–काल में ही उनकी कुछ सामग्री किसी के यहाँ छूट गई हो। अगर आप ऐसी तमाम सामग्री – पत्र, पांडुलिपियाँ, तस्वीरें, वस्तुएँ, पुरस्कार, हाथ से लिखा कोई पुर्जा, कोई स्मृति चिह्न, जो आपने अब तक अपने निजी संग्रह में सुरक्षित रखा हो, विश्वविद्यालय के संग्रहालय को देंगे, तो इससे व्यापक समाज लाभान्वित होगा और संग्रहालय आपकी इस भेंट से समृद्ध एवं गौरवान्वित होगा।

शमशेर जी की रचनावली प्रकाशन की प्रक्रिया में है। आपसे निवेदन है कि आप ऊपर संदर्भित कोई भी सामग्री शीघ्रातिशीघ्र विश्वविद्यालय को देने की पहल करें, ताकि उसका उपयोग रचनावली में किया जा सके। आपसे उपलब्ध हुई सामग्री आपके नाम के उल्लेख के साथ संग्रहालय में रखी जाएगी।

इस संबंध में आप निम्न लिखित पते पर संपर्क कर सकते हैं –

प्रभारी : स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र)
फोन : 8275410122
ईमेल :sureshsharmamedia@gmail.com

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 67

जख्मों से भरा सीना है मेरा, हंसती है मगर ये मस्त नजर

■ **जयप्रकाश चौकसे**
जाने-माने फिल्म समीक्षक

संपर्क: 301-ए, मौर्या प्रॉपर्टीज, 2-होमस्टड, 16 दत्तात्रेय रोड, सांताक्रूज(पश्चिम), मुंबई

रेणु और शैलेन्द्र के सपने, आदर्श और जीवन संघर्ष लगभग समान थे। रेणु की पीड़ा और प्रार्थना महाकाव्य की तरह थी और शैलेन्द्र की सोनेट की तरह परन्तु दोनों में अनुभूति की तीव्रता समान थी। यह अजूबा देखिए कि रेणु उस समय शैलेन्द्र से परिचित नहीं थे जब उन्होंने हीरामन रचा परन्तु हीरामन में शैलेन्द्र मौजूद हैं।

शैलेन्द्र की मृत्यु को लगभग आधी सदी बीत गई। उनके जीवन काल में उनकी जितनी चर्चा हुई उससे कहीं अधिक वे आजकल याद किए जाते हैं। इसके दो कारण हैं- एक तो मौजूदा फिल्मों के गीतों का घटियापन और दूसरा वे जिन जीवन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते थे, उन्हें अब मिटाने का प्रयास किया जा रहा है। ये मूल्य रबर की गेंद की तरह थे जो बार-बार लौट आते थे। परन्तु यह शायद अंतिम बिदाई है। बकौल शैलेन्द्र 'आज की बिदा का मर कर भी रहता इंतजार, मेरे साजन उस पार'(बंदिनी)। आज शैलेन्द्र और फणीश्वरनाथ रेणु का हीरामन कहीं नजर नहीं आता। उसे आज के अंधड़ ने ऐसा लील लिया है मानो वह कभी जन्मा ही नहीं था! बिहार के कुरूक्षेत्र में हीरामन अवतरित होकर ही हमें संपूर्ण रूप से नष्ट होने से बचा सकता है क्योंकि बिखराव और विघटन की ताकतें स्वयं को गणतांत्रिक रूप से अधिकृत शक्ति बनाने की चेष्टा कर रही हैं। बिहार प्राय: जन आंदोलन का केंद्र रहा है, इतिहास की नदी का निर्णायक मोड़ रहा है। इतिहास को अपने दृष्टिकोण से पुन: लिखवाने का प्रयास करनेवालों को नहीं मालूम कि इस नदी पर इबारतें नहीं लिखी जा सकतीं। इस नदी के किनारे रेत का घरौंदा बनाते बच्चे कुछ सीप-शंख पा लेते हैं तो समझते हैं कि नदी के तल को उन्होंने थाम लिया है।

शैलेन्द्र ने रेणु की पांच कहानियों के संकलन में 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' पढ़ी और उनके मन में इस पर फिल्म बनाने का विचार आया। इस कहानी को अनगिनत पाठकों ने पढ़ा है परन्तु मुंबई के उपनगर खार के अपने 'रिमझिम' बंगले में बैठकर इसे पढ़ने वाले शैलेन्द्र उस समय तक फिल्म जगत में पंद्रह सक्रिय वर्ष बिता चुके थे और 'जान जोखम में डालने वाले फिल्म निर्माण' में इसके खतरों को पूरी तरह जानकर आना चाहते थे और सच तो यह है कि इस पर फिल्म न बनाना अब उनके बस का नहीं था। इस बेबसी का कारण क्या था? हीरामन से उनका रिश्ता क्या था? क्या रावलपिंडी में जन्मे शैलेन्द्र के पिता केशरीलाल, दादा और पड़दादा का बिहार में जन्म लेना ही हीरामन से उनके रिश्ते का कारण था? इसे समझने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि शैलेन्द्र जिस कालखंड में जवान हो रहे थे, उस कालखंड में युवा मार्क्स या गांधी से प्रभावित होते थे। यह भी माना जाता था कि अगर आप मार्क्सवादी नहीं है तो आप युवा भी नहीं हैं। शैलेन्द्र कभी भी इतने अनाड़ी नहीं थे कि किसी लोकप्रिय जुमले की खातिर किसी दर्शन में यकीन कर लें। यह सच है कि मार्क्सवाद में विश्वास के कारण मुंबई में नौकरी करते समय वे इप्टा से जुड़े और उन्होंने इप्टा के लिए गीत लिखे परन्तु वे इस तरह के मार्क्सवादी नहीं थे कि गांधीवाद से अपने को दूर रख पाते। शैलेन्द्र ने कभी स्वयं को ऐसी बोतल नहीं बनाया जो अपने लेबल के कारण जानी जाए। वास्तव में शैलेन्द्र जिस सांस्कृतिक मिट्टी के बने थे, वह गांधी और मार्क्स में सामंजस्य स्थापित कर सकती थी।

मनुष्य जिस व्यक्ति की चिंता का केंद्र हो, वह किसी एक राजनैतिक आदर्श के बंधन में नहीं बंधता। शैलेन्द्र का गांधी के प्रति आदर और स्वतंत्र होने के बाद किस दिशा में जाने के प्रति उनकी बेचैनी 'सीमा' के गीत में गूंजती है- 'घायल मन का पागल पंछी उड़ने को बेकरार, पंख हैं कोमल, आंख हैं धुंधली, जाना है सागर पार ... अब तू ही हमें बतला कि कौन दिशा से आए हम, तू प्यार का सागर है, तेरी एक बूंद के प्यासे हम।'

रेणु के गांव के हीरामन ने मार्क्स का नाम नहीं सुना। परन्तु यह संभव है कि मार्क्स हीरामन के दर्द

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 68

को समझते थे, रेणु की वेदना ने ही तो उन्हें अपना दर्शन बुनने में सहायता दी थी। हीरामन ने संत गांधी का नाम सुना था और संभव है कि उनकी चंपारन सभा में अपनी बैलगाड़ी पर लादकर वह लोगों को ले गया हो। इन बातों से भी शैलेन्द्र व हीरामन का रिश्ता समझ नहीं आता। सन 1964 में नेहरू की मृत्यु हुई और बजरिये ख्वाजा अहमद अब्बास तथा राजकपूर शैलेन्द्र नेहरू से रूबरू हुए थे। वे नेहरू के भारत की माटी और गंगा प्रेम से अंजान नहीं थे। शैलेन्द्र यह भी जानते थे कि डॉक्टर के प्रमाण-पत्र भले ही यह कहें कि नेहरू की मृत्यु हृदयाघात से हुई, नेहरू चीन के विश्वासघात से मरे थे। वरन संपूर्ण सत्य तो यह है कि नेहरू अपने आदर्श पंचशील की विफलता से मरे और इस तरह की मृत्यु को ज्यां पॉल सार्त्र जीवन का 'काऊंटर क्लोजर' मानते हैं अर्थात जीत के क्षण में मनुष्य जानता है कि उसके आदर्श मात खा चुके हैं। गांधी भी 'काऊंटर क्लोजर' की मिसाल हैं कि भारत की स्वतंत्रता के क्षण में वे जानते थे कि देश का विभाजन उनके आदर्श की मृत्यु है।

शैलेन्द्र और हीरामन का रिश्ता कुछ यूं समझा जा सकता है कि सन् 1964 में नेहरू की मृत्यु के पूर्व ही बोलचाल की भाषा में शैलेन्द्र ने सुना था कि 'मजबूरी का नाम महात्मा गांधी है।' गांधी तो कभी मजबूर नहीं हुए और ना ही अपने आदर्श से समझौता किया लेकिन शैलेन्द्र को आभास हो गया था कि देश से जीवन मूल्यों का लोप प्रारंभ हो चुका है और सन् 1964 को ये जुमलेबाजी भी कुछ वैसी ही थी जैसे 1938 में मेरठ में उन्होंने सुना था कि जो मार्क्सवादी नहीं, वह युवा ही नहीं।

कवि त्रिकालदर्शी होता है। वह विगत के साए और आने वाले वक्त की परछाई को पहले ही देख लेता है। शैलेन्द्र ने 'संगम' के गीत लिखे थे और यह भी शिद्दत से महसूस किया था कि उनका अन्यतम मित्र राजकपूर नेहरू के समाजवादी सपनों को सेल्युलाइड पर अंकित करने वाला, सिनेमा के 'जंगली' से रंगीन होने के बाद रंग और राधा का संगम बना रहा है। पहली कलर कामयाब फिल्म का नाम 'जंगली' होना क्या महज इत्तेफाक था? शैलेन्द्र भविष्य को देख रहे थे कि सिनेमा ही नहीं, जीवन से भी कविता का लोप हो जाएगा। जीवन में घनघोर व्यावसायिकता व बाजार की ताकत ने अपने स्वर्णकाल के आने के पहले ही अपने भयावह साए फैला दिए थे। उन दिनों बिमल राय भी अस्वस्थ थे और 'बंदिनी' बनाने वाला 'प्रेम-पत्र' बना रहा था।

आज जिन हालात से कुछ लोगों में नैराश्य है, शैलेन्द्र ने उसे उन्हीं 'जंगली' दिनों में जान लिया था। वे यह भी महसूस कर रहे थे कि हीरामन भविष्य में अदृश्य हो सकता है। 'तीसरी कसम' में उन्हें अपने जीवन मूल्य, अपनी माटी और उसका दर्द दिखा और इस कृति को सेल्युलाइड पर उतारना उन्हें अनिवार्य लगा। सृजनशील व्यक्ति के मन में यह बात आती है कि अगर यह नहीं किया तो जन्म लेना ही अकारथ हो जाएगा। सर रिचर्ड एटनबरो ने गांधी की पटकथा नेहरू को पढ़ने के लिए दी थी और उनके सुझाव पर उसे पुनः लिखने का फैसला किया गोया कि 1958 से 1982 तक वह इस फिल्म को थामे रहे।

नवेन्दु घोष, रेणु और शैलेन्द्र ने मिलकर फिल्म का आकल्पन किया और कागज पर लिखी फिल्म को वे जस का तस सेल्युलाइड पर उतारना चाहते थे। इस तैयारी में वे हीरामन को पूरी तरह आत्मसात कर चुके थे। दरअसल हीरामन व शैलेन्द्र में बहुत सी समानताएं हैं- सादगी, ईमानदारी

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 69

और मासूमियत।

रेणु और शैलेन्द्र के सपने, आदर्श और जीवन संघर्ष लगभग समान थे। रेणु की पीड़ा और प्रार्थना महाकाव्य की तरह थी और शैलेन्द्र की सोनेट की तरह परन्तु दोनों में अनुभूति की तीव्रता समान थी। यह अजूबा देखिए कि रेणु उस समय शैलेन्द्र से परिचित नहीं थे जब उन्होंने हीरामन रचा परन्तु हीरामन में शैलेन्द्र मौजूद हैं। परिचय होने पर हम सचमुच किसी को जान नहीं पाते और अपरिचित भी कोई विन्ध्याचल नहीं है कि पार न कर सकें। निदा फाज़ली की पंक्तियां इसे समझने में मदद कर सकती हैं- 'मैं रोया परदेश में भीगा मां का प्यार, दिल ने दिल से बात की, बिन चिट्ठी, बिन तार'। हम मोटे तौर पर यह कह सकते हैं कि पारंपरिक परिचय नहीं होने पर भी शैलेन्द्र फिल्म जगत में रेणु की तरह ही काम करते थे। रेणु का लेखन बिम्ब और ध्वनिप्रधान है, शैलेन्द्र भी शब्दों से बिम्ब की रचना करते थे। हीरामन के सेतु पर शैलेन्द्र व रेणु मिलते हैं और कई बार लगता है कि हीरामन ही शैलेन्द्र बन कर गीत लिखते थे- 'दिल का हाल सुने दिलवाला सीधी सी बात न मिर्च मसाला, कहकर रहेगा कहने वाला' या वो लोग जो ज्यादा जानते हैं, इंसान को कम पहचानते हैं या छोटे से घर में गरीब का बेटा, मैं भी हूं मां के नसीब का बेटा, रंजोगम बचपन के साथी, आंधियों में जली जीवन बाती, भूख ने बड़े प्यार से पाला या 'समझने वाले समझ गए ना समझे वह अनाड़ी है'।

रेणु, शैलेन्द्र और हीरामन के जीवन के केलिडियोस्कोप के रंगीन कांच की तरह भांति-भांति की छवियां गढ़ते हैं और सारी छवियां गड्ड-मड्ड हो जाती हैं। यह रिश्ता है शैलेन्द्र और हीरामन का या कहें दोनों ही रेणु के एक दिल के दो अरमान की तरह थे। इस दृष्टि से देखें तो आप जान जाएंगे कि शैलेन्द्र के बस में ही नहीं था कि वह 'तीसरी कसम' नहीं बनाए। शैलेन्द्र और रेणु को भय था कि भारत से भारतीयता का लोप हो जाएगा, सिनेमा में भारतीयता को अक्षुण्ण रखने का प्रयास था 'तीसरी कसम'। अधिकतर फिल्म समालोचक 1969 में मृणाल सेन की 'भुवन शोम' को समानांतर सिनेमा की पहली फिल्म मानते हैं परन्तु 10 अगस्त 1965 को प्रदर्शित 'तीसरी कसम' को यह श्रेय जाता है। उसमें राजकपूर और वहीदा जैसे सितारों के होने के कारण उस कृति का मूल्यांकन ही नहीं किया गया। हमारे समालोचक 'सितारा' शब्द से ही भड़क जाते हैं।

'बूट पॉलिश' में लता को एतराज था 'मैं बाजारों की नटखट रानी' तो शैलेन्द्र ने तुरन्त ही 'बाजारों' की जगह 'बहारों' कर दिया। सन् 1936 में पेरिस में खुले पहले मॉल को देखकर दार्शनिक वाल्टर बेन्जामिन ने कहा था कि ये जगमगाते मॉल आज पूंजीवाद की पताका लग रहे हैं परन्तु ये मॉल ही उसे समाप्त कर देंगे। शैलेन्द्र की कसमसाहट देखिए ' जो दिन के उजाले में न मिला, दिल डूबी ढूंढ़े ऐसे सपने को, इस रात की जगमग में, मैं ढूंढ़ रही हूं अपने को'।

'तीसरी कसम' से जुड़े वासु भट्टाचार्य, नवेन्दु घोष और उनके सारे सहायक बिमल राय से जुड़े थे और फिल्म की परिकल्पना भी बिमल राय के स्टूडियो के अहाते में हुआ था। यह भी कहा जाता है कि बिमल राय, बासु भट्टाचार्य का उनकी पुत्री टिंकी से प्रेम को पसंद नहीं करते थे। जन्म-जन्मांतर की प्रेम कहानी 'मधुमति' बनाने वाला अपनी पुत्री के प्रेम के खिलाफ था। उन्हें अपने सहायक बासु भट्टाचार्य पर भरोसा नहीं था और उनका भय भी बाद में सही सिद्ध हुआ। बहरहाल हम यह मान सकते हैं कि मुंबई में बसे बंगाली अड्डे में 'तीसरी कसम' फिल्म का परिकल्पना हुई। सत्यजीत राय के कैमरामैन को अनुबंधित किया गया।

शैलेन्द्र के फिल्मों में जुड़ने से पहले की लिखी कविताएं डायडेक्टिक हैं और उनके बलबूते पर उन्हें साहित्य में स्थान मिलना मुश्किल था। इप्टा के मंच के लिए लिखी रचनाएं उनके राजनैतिक आदर्श मार्क्सवाद से ओत-प्रोत हैं। कुछ में मजदूरों का दर्द है, देश के विघटन की पीड़ा भी है। शैलेन्द्र अनिच्छुक गीतकार के रूप में आए और पहली फिल्म बरसात के उनके लिखे दोनों गीत साधारण हैं। परन्तु मार्क्सवादी ख्वाजा अहमद अब्बास की पटकथा 'आवारा' और उसके राजकपूर द्वारा किए गए फिल्म रूपांतरण ने उन्हें प्रेरित किया और उन्होंने जम कर लिखा। 'जिंदगी की आग में जल रहा हूं मैं, मुझको प्रीत चाहिए मुझको चाहिए बहार' एक अतृप्त आत्मा का अंतर्नाद है और टाइटिल गीत के लिए 'जख्मों से भरा सीना है मेरा, हंसती है मगर ये मस्त नजर' गोया कि 1942 से 1949 तक उनका सीना जख्मों से भरा था और स्वतंत्र देश में वे बहार की कामना करते हैं। जैसे रेणु की रचना में ध्वनियों का इस्तेमाल होता है वैसे ही शैलन्द्र को संगीतकारों की संगत मिलते ही उनका सोया लिरिसिज्म अंगड़ाई लेकर जाग उठा। कभी रेलवे में कर्मचारी रहे शैलेन्द्र को मनचाही पटरी मिल गई। फिल्म माध्यम उन्हें रास आ गया। जिस तरह राजकपूर फिल्म माध्यम के लिए ही जन्मे थे वैसे ही शैलेन्द्र को इस माध्यम ने ऐसे

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 70

अवसर दिए कि उनके फिल्मों के लिए लिखे गीत उन्हें साहित्य जगत में सम्मान दिलाते हैं।

साहिर ने कहीं कहा है कि 'किरण परी गगरी छलकाए, ज्योत का प्यासा प्यास बुझाए, मत रहना अंखियों के भरोसे' जैसे गीत लिखने वाले शैलेन्द्र ने 'अनारकली' में सी. रामचंद्र के आग्रह पर उर्दू शब्दों का इस्तेमाल किया और 'यहूदी' के लिए 'ये मेरा दीवानापन है या मोहब्बत का सरूर न पहचाने तो ये है तेरी नजरों का कसूर, ...तू आए न आए हम करेंगे इंतजार' भी लिखा। 'मधुमति' और 'गाइड' में शैलेन्द्र की बहुमुखी प्रतिभा उजागर हुई। 'मधुमति' के लिए उन्होंने एक मुजरा भी लिखा है और जॉनी वाकर के लिए हास्य गीत 'जंगल में मोर नाचा...' भी। 'गाइड' की रोजा का चरित्र चंद शब्दों में उजागर किया 'तोड़ के बंधन बांधी पायल, आज फिर जीने की तमन्ना है, आज फिर मरने का इरादा है' और इस अजीबोगरीब प्रेम कथा में नायक-नायिका के बीच दूरी आने को यूं बयान किया 'दिल के मेरे पास हो इतने, फिर भी हो कितनी दूर, तुम मुझसे मैं दिल से परेशां, दोनो हैं मजबूर, ...ऐसी ही थी बरसात, खुद से जुदा और जग से पराए, हम दोनों थे साथ, फिर से वह सावन क्यों न आए'। 'गाइड' के एक गीत के लिए चार सेट लगाए गए थे परन्तु विजय आनंद ने शैलेन्द्र के बीमार होने के कारण एक माह शूटिंग नहीं की। फिल्म उद्योग में केवल सितारे के लिए यह किया जाता है और शैलन्द्र की हैसियत कुछ ऐसी ही थी।

इसलिए वे लोग गलत है जिनका विचार है कि 'तीसरी कसम' की असफलता या कुछ कर्ज के कारण शैलेन्द्र नैराश्य से घिर गए। सच्चाई यह है कि उनके लिए यह रकम मामूली थी और उनके निर्माता अग्रिम राशि देकर उन्हें मुक्त करा लेते। उनके अपने निकट रिश्तेदार ने निर्माण में चोरी की और दिल्ली में दो वितरकों को फिल्म बेचने का गुनाह किया, जिस कारण शैलेन्द्र फिल्म के दिल्ली प्रीमियर में नहीं गए। राजकपूर और मुकेश ने विवाद निपटा कर फिल्म प्रदर्शित की। यह भी गौरतलब है कि कलर युग में उन्होंने 'तीसरी कसम' श्याम-श्वेत रची क्योंकि वे 'जंगली' कलर की चकाचौंध के बदले 'जुगनू' की मध्यम रोशनी रचना चाहते थे। यह जज्बा कुछ ऐसा था जैसे चार्ली चैपलिन ने सवाक फिल्मों के युग में एक मूक फिल्म रची। कला और जीवन मूल्यों की प्रतिबद्धता को आज के बाजार युग में समझाना कठिन है। उन्होंने तीसरी कसम वैसी ही बनाई जैसा उनका सपना था परन्तु मूल्यों के पतन का उनका भय सही सिद्ध हुआ।

आज जिन हालात से कुछ लोगों में नैराश्य है, शैलेन्द्र ने उसे उन्हीं 'जंगली' दिनों में जान लिया था। वे यह भी महसूस कर रहे थे कि हीरामन भविष्य में अदृश्य हो सकता है। 'तीसरी कसम' में उन्हें अपने जीवन मूल्य, अपनी माटी और उसका दर्द दिखा और इस कृति को सेल्युलाइड पर उतारना उन्हें अनिवार्य लगा। सृजनशील व्यक्ति के मन में यह बात आती है कि अगर यह नहीं किया तो जन्म लेना ही अकारथ हो जाएगा।

'बूट पॉलिश' में लता को एतराज था 'मैं बाजारों की नटखट रानी' तो शैलेन्द्र ने तुरन्त ही 'बाजारों' की जगह 'बहारों' कर दिया परन्तु बाजार, जगमगाते बाजारों से उन्हें भय तो लगता ही था। सन् 1936 में पेरिस में खुले पहले मॉल को देखकर दार्शनिक वाल्टर बेन्जामिन ने कहा था कि ये जगमगाते मॉल आज पूंजीवाद की पताका लग रहे हैं परन्तु ये मॉल ही उसे समाप्त कर देंगे। शैलेन्द्र की कसमसाहट देखिए 'जो दिन के उजाले में न मिला, दिल डूबी ढूंढ़े ऐसे सपने को, इस रात की जगमग में, मैं ढूंढ़ रही हूं अपने को'।

शैलेन्द्र को हमेशा जीवन मूल्यों के पतन का भय था और अपनी सफलता के दौर में भी उन्हें अनजानी सी कमी महसूस होती थी जिसे उन्होंने यूं बयां किया - 'इठलाती हवा, नीलम सा गगन, कलियों पर बेहोशी सी नमी, ऐसे में भी क्यों बेचैन है दिल, जीवन में न जाने क्या है कमी'। इसी रहस्यमय कमी और अनजानी-सी बेचैनी ने उनकी मृत्यु की पटकथा लिख दी थी।

शैलेन्द्र का संस्कार के प्रति मोह था। 'संगम' के गीत 'हर दिल जो प्यार करेगा गाना गाएगा' में नायिका के अंतरे में उन्होंने लिखा था 'करते करते कितने सावन बीत गए, जाने कब इन आंखों का सरमाना जाएगा।' किसी ने कहा कि 'कहीं आपने 'कहते कहते' तो नहीं लिखा था।' शैलेन्द्र ने समझाया कि कुंवारी लड़कियां सावन का उपवास करती हैं, इसलिए लिखा है- 'करते करते कितने सावन बीत गए'।

बहरहाल शैलेन्द्र की कुछ आस्थाएं थीं आज भी उम्मीद कर सकते हैं कि उनकी आस्था रेणु और हीरामन को अवतरित करेंगी जो बिहार में अंधड़ को थाम लेंगे और भारत में भारतीयता की रक्षा करेंगे। शैलेन्द्र और सचिन देव बर्मन के साथ हम भी प्रार्थना करें- 'ओ जाने वाले हो सके तो लौट के आना, ये घाट ये बाट तू कहीं भूल न जाना।' ■

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 71

एक पत्रिका के प्रकाशन यात्रा का रोचक ब्योरा

डॉ. अशोक नाथ त्रिपाठी

संपर्क : साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001

पार्थ चट्टोपाध्याय का आलेख 'नीति, नेता और प्रजातंत्र' रोचक है। उसमें वे सत्याग्रह को लेकर कई मौजू प्रश्न रखना चाहते हैं। जिस सत्याग्रह की शुरुआत गांधी ने की थी वह आज कहां हैं? क्या कारण है कि लोगों के मन में यह भ्रांति फैलती जा रही है कि राष्ट्र का कानून अन्यायपूर्ण है, और कानून से बड़ा भी कोई सच है।

पहल

पहल के इस अंक की संपादकीय में इसके प्रकाशन यात्रा का रोचक ब्योरा दिया गया है। इस पत्रिका के प्रकाशन के सिलसिले में क्या समस्याएं आईं और उनसे कैसे पार पाया गया इन सबका वर्णन है। इस पत्रिका ने कई विशेषांक निकाले जिनमें 'पाश', 'रैबो', 'रेड इंडियन कविता', 'वोले शेयिंका', 'वाल्टर बेजांमिन', 'अफ्रीकी लोकगीत', 'एडवर्ड सईद', 'चीन, पाकिस्तान और बाग्लादेश आदि के श्रेष्ठ साहित्य पर केंद्रित अंक शामिल हैं। कुल मिलाकर 'पहल' ने अपने 100 अंकों की यात्रा के पड़ाओं और उपलब्धियों का लेखा-जोखा रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। राजेन्द्र धोड़पकर के कार्टून बेहद रोचक और चेतना-संवेदना को झंकृत करनेवाले हैं उन्होंने अपने कार्टून को 'तब' और 'अब' के दो हिस्सों में रख कर तुलनात्मक बहस की है। स्मृति स्तंभ के बहाने एदुआर्दो गेलियानो साहित्य पर 'इतिहास कहता है फिर मिलेगें' शीर्षक के अंतर्गत चर्चा की गई है और इस स्तंभ को 'बदलती हुई लड़ाइयां' शीर्षक दिया गया है। यह अंश उस रचनाकार को श्रद्धांजलि भी है जिनकी अप्रैल 2015 में मृत्यु हो गई। गेलियानों पूजीवाद के प्रखर विरोधी थे। जन आदोंलनों से भी उनका सीधे सरोकार था। 'ओपन वेन्सी ऑफ लैटिन अमेरिका' गेलियानों की सफल रचना है। इस किताब में एक खास समाज की झांकी प्रस्तुत की गई है। दरअसल यह ऐसे लेखक हैं जो खुद को सीधे जादुई यथार्थवाद से जोड़ते थे। मंगलेश डबराल ने एर्नेस्तोक कार्देनाल की कविता का अनुवाद किया है। पास्टईर निमौले की दो कविताओं का अनुवाद निष्काम ने किया है। आस्ट्रेलिया के युवा पर्यावरणविद जान गोर्डन की कविता की प्रस्तुति और अनुवाद यादवेंद्र ने प्रस्तुत किया है। जान गोर्डन कई सालों से पर्यावरण की रक्षा से जुड़े रहे हैं। उनकी कविता 'आस्ट्रेलिया-दुनिया की वेश्या' में आस्ट्रेलिया के अंदर हो रहे उत्खनन को रेखाकिंत किया गया है। जर्मन में पहल में हेमंत शर्मा ने 'प्रोजेक्टा' और 'पहल' पत्रिका के रिश्ते की पड़ताल की है। 'पहल' विशेष में निकानोर पार्का को याद करते हुए सात कविताएं दी गई है। पार्का की विशेषता है कि वे अभी भी दूध और दही का सेवन करते हैं। 'काल्पनिक आदमी' शीर्षक कविता में वे कहते हैं-

'काल्पनिक आदमी
एक काल्पनिक हवेली में रहता है
काल्पनिक पेड़ों से घिरा हुआ
एक काल्पनिक नदी के तटों पर।'

मुंशी नवलकिशोर की एक नज्म 'हिंदी का माहताब' उल्लेखनीय है। उसकी कुछ पंक्तियां देखी जा सकती हैं-

'हिंदी का माहताब थे मुंशी नवल किशोर

. . . . . .

मजहब हो, इल्म हो, वह अदब हो कि फलसफा

हर बात का जवाब थे मुंशी नवल किशोर।'

राजकुमार केसवानी के मुंशी नवल किशोर पर केंद्रित आलेख में उनके जीवन की घटनाओं का नमूना प्रस्तुत किया गया है। मुंशीजी की मृत्यु पर लिखते हैं कि 'मुंशी जी की अचानक हुई मौत से लखनऊ ही नहीं बल्कि तमाम हिदुंस्तान के अदबी हल्कों में मातमी माहौल बन गया।' दिनकर कुमार ने बीस असमिया कवियों की कविताओं का हिंदी अनुवाद किया है। इक्कीसवीं सदी के सवाल से रूबरू होते हुए रणेन्द्र ने 'विकास का आतंकवाद, मुख्यधारा का भोगवाद और आदिवासी प्रति-संस्कृति' पर लंबी बहस छेड़ी है। वरिष्ठ पत्रकार अच्युतानंद मिश्र अपने आलेख 'आधुनिकता का विकल्प/विकल्पों की आधुनिकता' में आधुनिकता के विविध पक्ष है। 'आलोचना की नई पगडंडियां' शीर्षक से पंकज चतुर्वेदी और गजेन्द्र पाठक को शामिल किया गया है। पंकज ने असद जैदी के कविता संग्रह के बहाने अपनी बात रखी है तो गजेन्द्र ने 'गोलमेज' शीर्षक से अरुण कमल की पड़ताल की है। अन्य स्थायी स्तंभों के साथ सुभाष पंत की कहानी 'जमूरे के लिए विनम्र सम्मान के साथ' गजेन्द्र आहुजा की कहानी 'मनाना' रवि बुले की 'कैरेक्टर' कहानी अच्छी है। समग्रता में 'पहल' का यह अंक व्यापक रुचियों के पाठकों को पसंद आएगा।

आलोचना

'आलोचना' पत्रिका ने लगातार दो अंकों से भारतीय जनतंत्र को देखने-परखने की कोशिश में लगी है। 'भारतीय जनतंत्र का जन कौन है' शीर्षक संपादकीय के माध्ययम से अपूर्वानंद ने कई सवाल उठाए हैं। पहला सवाल तो शीर्षक में ही है और दूसरा सवाल यह भी है कि जनतंत्र किसे शिकायत की नजर से देखता है? धर्म के सवाल भी सोचने के लिए विवश

करते हैं कि भारत में हिंदू आबादी का बढ़ना सहज स्वाभाविक और मुस्लिम आबादी बढ़ना चिंता का सबक क्यों बनता है। एक खास कौम को संदेह से देखने का आशय क्या है। ऐसे कई बड़े सवाल उठाए गए हैं। पार्थ चट्टोपाध्याय का आलेख 'नीति, नेता और प्रजातंत्र' रोचक है। उसमें वे सत्याग्रह को लेकर कई मौजू प्रश्न रखना चाहते हैं। जिस सत्याग्रह की शुरुआत गांधी ने की थी वह आज कहां हैं? क्या कारण है कि लोगों के मन में यह भ्रांति फैलती जा रही है कि राष्ट्र का कानून अन्यायपूर्ण है, और कानून से बड़ा भी कोई सच है। 'कर्म, भारतीय जनतंत्र और चुनाव' में मणीन्द्र नाथ ठाकुर यह मानते दिखते हैं कि चुनाव समाज में चल रहे परिवर्तन की प्रक्रिया का सिर्फ एक लक्षण है। यह उस सवाल का उत्तर है जिसके कारण लोग चुनाव और उसके परिणामों को लेकर परेशानी का अनुभव कर रहें हैं। उन्होंने अपने आलेख को घोषित करके तीन हिस्सों में बांटकर देखने का प्रयास किया है। पहले में धर्म की परिभाषिक समस्या पर विचार किया है। दूसरे भाग में यह बताने का प्रयास है कि राजनीति में धर्म की वापसी कैसी घटना है। अगले खंड में जन-आंदोलन की कोशिशों में मुक्तिकामी धर्म की परिकल्पना की चर्चा है। इन्होंने इस लेख द्वारा इस बात की पड़ताल करने की कोशिश की है कि आम चुनाव में धर्म जनतंत्र और चुनाव के संबंधों का रिश्ता कैसा रहा है। 'भारतीय लोकतंत्र और सिविल सोसाइटी' पर अविनाश कुमार का एक आलेख है। सिविल सोसाइटी को एक नए तरीके से क्यों देखा जा रहा है, इस पर अविनाश ने जबाब देने की कोशिश की है। 'हिंदी सिनेमा और लोकतंत्र' में इस बात पर बहस है कि सिनेमाघरों में सिनेमा के पहले राष्ट्रगान का वीडियो चलाया जाता है उससे कौन सी बहस छिड़ जाती है और क्या परिणाम हो सकते है, इसका ब्योरा दिया गया है। संजय लीला भंसाली की फिल्म 'मैरीकॉम' के बहाने बाजार के रिश्तों को जांचा गया है। तर्क यह दिया गया है कि कोई बड़ी हस्ती नहीं बल्कि फिल्म की कहानी के आधार पर छोटे किरदार भी फिल्म चला सकते हैं। मदन सोनी का आलेख 'हिंदी उपन्यास की अल्पता पर कुछ उहापोह' पहले ही चर्चा का विषय बन चुका है। जिसमें हिंदी उपन्यास से काफी अपेक्षाएं पाल रखने वाले मदन जी निराश नजर आते है। 'देसी ठाठ में राग बिदेसिया' श्रीकांत किशोर का आलेख काफी मजेदार है। वे यह बताते हैं कि लोक रंगमंच और परंपरा में काफी अंतराल आ चुका है। लेकिन लोक रंगमंच में 'बिदेसिया' इसका प्रामाणिक दस्तावेज है कि इसके बहाने भिखारी ठाकुर एक तरफ नाट्यशास्त्र में वर्जित तत्वों का उल्लेख करते हैं तो दूसरी और समसामयिक यथार्थ को भी अमली जामा पहनाते हैं। भारतीय जनतंत्र के प्रति एक खास नजरिए से देखने की कोशिश अधूरी होने के बावजूद पढ़ने लायक है।

बया

'बया' का यह अंक दलित चिंतक तुलसीराम पर केंद्रित है। संपादक के शब्दों में 'तुलसीराम के व्याक्तित्व में बुद्ध की करुणा, कबीर का अक्खड़पन और सच कहने का साहस एक साथ घुला मिला था।' यह सही है कि वे अपने बचपन में जिन विसंगतियों समस्याओं को झेला उन सब समस्याओं को अपने शिक्षा के बल पर पछाड़ दिया, उनके भीतर एक अदम्य साहस का भाव था।' इस विशेषांक में एक ओर तुलसीराम के व्यक्तित्व

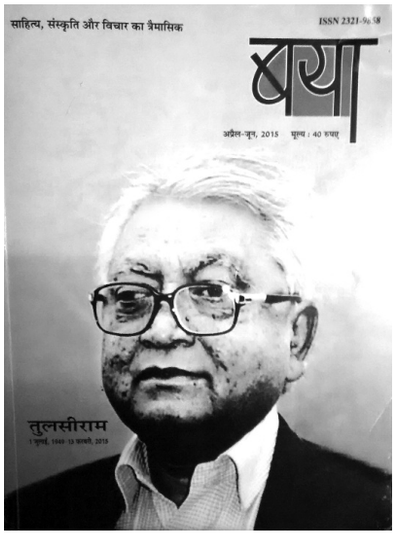

को परखने की कोशिश है तो दूसरी ओर तमाम सामाजिक और साहित्यिक सरोकारों को भी उकेरा गया है। तुलसीराम के व्यक्तित्व को सामने लाने का प्रयास दीपक मलिक ने किया है जिसमें उनका मानना है कि तुलसीराम का मूल्यांकन केवल 'दलित साहित्य' के खाते में करना एक बड़े कैनवस के अवहेलना के जैसा है। तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' को ग्राम अध्य्यन की संदर्भ सामग्री के रूप में देखा जा सकता है। जयप्रकाश कर्दम ने उन्हें संघर्ष और जीवटता का दूसरा नाम कहा है। वे सिद्धार्थ गौतम के गृह-त्याग का संदर्भ उठाते है। कर्दम ने यह भी बताने की कोशिश की है कि किस तरह वह जीना चाहते थे। गंगा सहाय मीणा के लिए तुलसीराम जी अभिभावक जैसे थे। उनका यह मानना है कि तुलसीराम ऐसे चिंतक थे जो दलितों के साथ गैर दलितों में भी स्वीकृत थे। कुछ निजी बातों को साझा करते हुए उनकी पत्नी का भी आलेख है जिसमें यह बताने का प्रयास था कि घर और बाहर दोनों जगहों पर उनका व्यवहार एक जैसा था। तुलसीराम की आत्म कथा 'मुर्दहिया' की अच्छी पड़ताल प्रस्तुत की गई है। मणीन्द्रनाथ ठाकुर 'समाजशास्त्र के स्वरूप पर बहस और मुर्दहिया' के बहाने अपनी बात रखते हैं जिसमें यह सवाल उठाते हैं कि एक समाज शास्त्रीय लेखक समाजशास्त्रीय ग्रंथ न रचकर उसे आत्मकथा का रूप क्यों प्रदान करता है। इसी लेख में समाजशास्त्रक और साहित्य को लेकर एक गंभीर बहस की गई है। सूर्यनारायण रणसुभे एक दलित चिंतक के रूप में 'तुलसीराम की आत्मकथा: मुर्दहिया और मणिकर्णिका' शीर्षक से अपनी बात रखते हैं। उनका यह मानना महत्त्वपूर्ण है कि पूरी आत्मकथा में लेखक कहीं पर भी खुद को प्रतिष्ठित करने का, खुद के संघर्ष को अति विशिष्ट बतलाने का कही भी प्रयत्न नहीं करते। यह बात तुलसीराम की भूमिका के हवाले रखी गई है। आत्मकथाएं भूतकालिक होती हैं लेकिन तुलसीराम ने वर्तमान से भूत और भूत से वर्तमान की निरंतर यात्रा की है। 'मुर्दहिया' की जीवंतता पर बलराज पाण्डेय की टिप्पणी सराहनीय है। मैनेजर पाण्डेय को तुलसीराम की आत्मंकथा का पहला खण्ड काव्यामय लगता है इसमें लोक, और साहित्य दोनों को देखा जा सकता है उन्होंने 'मृच्छकटिकम' से लेकर शेक्सपियर तक का उल्लेख किया है। उनके आत्मकथा के दोनों नाम मृत्यु से जुड़े हैं। एक गांव का शमशान है दूसरा बनारस का। 'मणिकर्णिका' अंतिम हिस्से की प्रेमकथा से तुलसीराम का सीधा रिश्ता जोड़ने की बात करते हैं। इसी अंक में तुलसीराम के साथ साक्षात्कार भी दिए गए हैं। ब्राम्हाणवाद के सवाल पर तुलसीराम ने बेबाकी से उत्तर देते हुए कहा कि इनसे राजा भी डरने लगा क्योंकि यह ईश्वर का बिचौलिया था। तुलसीराम के बहाने साहित्य के एक अलक्षित पक्ष से रूबरू करने के लिए 'बया' के संपादक को बधाई।

तदभव

'तदभव' के सम्पादक अखिलेश स्वयं एक कथाकार और समीक्षक हैं और उसी अनुभव के आलोक में वे अपने संपादकीय में इस बात की ओर इशारा करते हैं कि आजादी के बाद हिंदी कहानी पर भोगा हुआ यथार्थ और अनुभव की प्रामाणिकता का व्यापक असर हुआ। कमलेश जी आज हमारे बीच नहीं हैं लेकिन उनके हवाले से अखिलेश ने साहित्य के यथार्थ पर हुई चर्चा का एक अंश प्रस्तुत किया

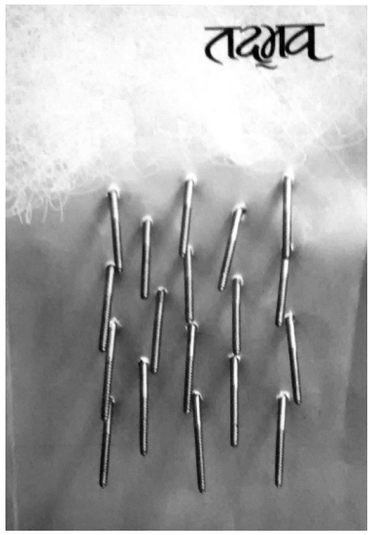

है जिसमें कमलेश जी ने बताया था कि यथार्थ हमारे मन में है। यह हमारे अंदर ही होता है। बाहर जो है उसी का प्रतिबिंबन है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि किसी भी रचनाकार की दुनिया में कोई भी अवधारणा या विचारधारा हमेशा एक नहीं रहती है। जब अखिलेश यह कहते हैं कि कोई भी शब्द 'अन्य' का पर्यायवाची नहीं होता तो उनका इशारा कहीं न कहीं पुनर्पठनीयता की ओर भी होता है। इस प्रत्यय की वकालत काफी पहले से हो रही है और तमाम नए स्कूल इस काम को कर रहे हैं- यह कोई निहायत नयी बात नहीं है। जब बाह्य जगत जिसको यथार्थ जगत भी कह सकते हैं साहित्य का अंग बनता है तो उसे अनेक प्रक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से गुजरना पड़ता है। अखिलेश इस बात की ओर भी संकेत करते हैं की यथार्थ को कलाकार /सर्जक की नजरों से भी देखा जाना चाहिए। कृष्णा सोबती ने 'गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्य पंक्तियों का पढ़ने का रुझान यह भी' के बहाने मुक्तिबोध को देखने की बात की हैं। इस प्रकार का लेखन हिंदी कविता को समझने के लिए एक गंभीर उपकरण की ओर इशारा करता है। सोबती यह कहना चाहती हैं की मुक्तिबोध अपने में इंसानी अस्मिता के एहसास को महसूस तो करते ही हैं साथ ही स्वयं की सीमाओं में उसे जल्दी बटोर भी लेना चाहते हैं जिससे वह कहीं विस्मृत न हो जाए। उनके

आलेख से इस बात के सूत्र भी निकल सकते हैं कि मुक्तिबोध का रचना संसार एक सांस्कृतिक धूपछाहीं परिवेश में फैला हुआ है। मुक्तिबोध की कोई भी विचारधारा रही हो वे अपने समय से बराबर टकराते रहते हैं। चूंकि मुक्तिबोध समय से मुठभेड़ करनेवाले रचनाकार हैं इसलिए अपने से अलग बौद्धिक स्तरों पर दूसरों की व्यथा को सहजता से आंकते हैं। मुक्तिबोध मानते हैं कि लेखक अपनी ही घेरेबंदी को तोड़कर जब दूसरे के मर्म में प्रवेश करता है तो स्वयं की नजरों में भी बदलाव महसूस करता है। मुक्तिबोध के शब्दों में –

'तुम छिपा चलो जो कुछ तुम हो
यह काल तुम्हारा नहीं
किंतु एकत्र करो
प्रज्ज्वलित प्रस्तरों को
वे आते होंगे लोग
जिन्हें तुम दोगे
देना ही होगा पूरा विप्लव
अपना सबका
मन का
जन का।'

दरअसल मुक्तिबोध की यह चेतावनी उन लोगों की ओर इशारा करनेवाली है जो लोक और लोकतांत्रिक मूल्यों के हनन करने से नहीं हिचकते हैं। कृष्णा सोबती का यह आलेख मुक्तिबोध के बहाने साहित्य के कई अन्य बिंदुओं को स्पर्श करता है। सुवीरा जायसवाल ने 'विष्णु के अर्ध पशु अर्ध मानव अवतार : नरसिंह और हयग्रीव' के बहाने इतिहास पर रोचक ढंग से पुन:विचार किया है। महाभारत के शांति पर्व का हवाला देकर हयग्रीव की उत्पत्ति की कहानी बताई गई है। इसी क्रम में बौद्ध और वैष्णव सम्प्रदायों के आपसी संबंधों की पड़ताल की गई है। यहां पर एक विरोधाभास भी दिखाई देता है– एक ओर लोक मानस में बुद्ध भी भगवान बन चुके हैं और वह नारायण विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे दूसरी ओर वृद्ध हारीत स्मृति के माध्यम से बुद्ध की पूजा के वर्णन का भी उल्लेख है और दशावतारों की सूची में बुद्ध के स्थान पर हयग्रीव को रखा गया है। इस बात की भी चर्चा है कि शंकराचार्य पर बौद्ध दर्शन का इतना प्रभाव पड़ा की लोग उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' ही मानने लगे। इसी विवरण में सिंहाचलम और मणिकूट के हयग्रीव मंदिर का इतिहास कुछ इसी प्रकार के संघर्षों और उथल–पुथल की कहानी बयां करता है। राज कुमार का आलेख भाषा को ध्यान में रखकर 'बहता नीर' शीर्षक से लिखा गया है। राजेश जोशी के 'कविता का नगर' शीर्षक आलेख के बहाने हिंदी कविता और नगर के संबंधों को टटोलने का प्रयत्न किया गया है। वे 1970 से लेकर 2010 तक की हिंदी कविता और भारत के नगरीकरण के रिश्ते पैमाइश करते नजर आते हैं। उनका यह मानना है की भारतेंदु की कविता 'देखी तुमरी काशी'को प्राचीन नगर के पुन:पाठ के रूप में देखा जाना चाहिए। दरअसल इस कविता में उस समय की सच्ची अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। इसी अंक में बद्रीनारायण, हरिश्चंद्र पांडेय आदि कवियों की कविताएं जीवंत संवेदना को उपस्थित करती हैं। रवीन्द्र कालिया का संस्मरण 'बेचैन रूह का मुसाफिर' काफी रोचक है। गरिमा श्रीवास्तव का 'बनमाली गो तुमि पर जन्मे होइयो राधा' यात्रा वृत्तांत पठनीय है। प्रियम अंकित ने पभु जोशी के कहानी संग्रह 'पितृ ऋण' पंकज मित्र के कहानी संग्रह 'जिद्दी रेडियो' और राजीव कुमार के कहानी संग्रह 'तेजाब' पर अपनी टिप्पणी दी है। समग्रता में 'तदभव' के इस ताजे अंक में साहित्य के कई नमूने परोसे गए है।

वागर्थ

'वागर्थ' का यह अंक देश–देशांतर नामक स्तंभ में एक ओर चित्तरंजन दास का 'आज का एकलव्य' और दूसरी ओर पब्लो नेरुदा का 'कविता का प्रति यथार्थवाद' दिया गया है। एकलव्य गुरु द्वारा उपेक्षित होकर समाज की अनुकंपा पा सकता है पर आज (जिसको वे वर्तमान युग कहते हैं) के महाभारत में उसे कोई जगह नहीं मिल सकती। यथार्थवाद पर नेरुदा की टिप्पणी काफी महत्वपूर्ण है। यथार्थवाद को लेकर अपने पक्ष में कहते हैं कि मैं कविता में

यथार्थवाद से नफरत करता हूं। यहीं पर वे यह भी कहने से नहीं हिचकते हैं कि मैं पुस्तकों से प्यार करता हूं। वे यह भी कहते हैं कि काव्य–कर्म की ठोस सामग्री, साहित्य के अरण्य इन सबसे मुझे प्यार है। रामनिहाल गुंजन 'मार्कंडेय की कथा दृष्टि और कथा चेतना' में कहते हैं कि मार्कंडेय हिंदी की जनवादी कथा परंपरा के अत्यंत सजग रचनाकार थे। यह सही है कि मार्कंडेय अपने लेखन को जीवन के सरोंकारों से जोड़ते थे। मार्कंडेय अपनी स्वीकारोक्ति में स्वयं को प्रेमचंद और यशपाल की परंपरा के कथाकार मानते थे। सेवाराम त्रिपाठी ने 'टेलीविजन:अतीत और वर्तमान' के बहाने दृश्य माध्यम के बदलते स्वरूप को दिखाने का प्रयत्न किया है। एल्विन टॉफ्लर के कथन (इन्फॉर्मेशन इस पावर) के हवाले अपनी बात शुरू करते हैं। इनके इस सूचनात्मक आलेख के माध्यम से दूरदर्शन की विकास यात्रा का ब्यौरा प्रस्तुत हुआ हैं। भारत यायावर ने कवि केदारनाथ सिंह पर केंद्रित अपने आलेख 'यह हंसी बहुत कुछ कहती है' से उनके व्यक्तित्व को टटोलने की कोशिश की है। उनका यह मानना है कि केदार जी ने अपने दुखों को कभी साझा नहीं होने दिया। केदार जी अपनी पत्नी को ध्यान में रखकर 'सृष्टि पर पहरा' नामक कविता लिखते हैं। जिसमें वे कहते हैं–

'पहले वह गई
फिर बारी बारी चले गए बहुत से दिन

और ढेर सारे पक्षी
और जाने कितनी भाषाएं
कितने जलस्रोत चले गए दुनिया से
जब वह गई।'

इस पूरी कविता में जिस मार्मिक संवेदना की अभिव्यक्ति है वही केदार की कविता की विशेषता भी है। कांतिकुमार जैन की 'वार्डिनी का पहला दिन', प्रकाश कान्त की 'नदी के लिए', तथा जीवन सिंह ठाकुर की 'क्षितिज के पार' कहानियां अच्छी है। प्रतिभा शतपथी की उड़िया कविता 'कविता लिखने की तड़प' में वह लिखती हैं –

अच्छा होता जो कविता न लिखती
सुनहरी मधुमक्खियों को सुबह
न बिखेर देती पूरी अमराई में
झने पत्तों पर डगमग चले जाते चींटे
गायब नहीं हो जाते हठात
कलेजे में लंबी चौड़ी शून्यता लटकाकर
सोने रुपये के भीड़ भरे बाजार में जाते समय
उतना अलग थलग सा नहीं लगता...

कुमार विश्वबंधु ने भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' पर 'मूल्यों का संकट और संकट का कंट्रास्ट' शीर्षक से अपनी टिप्पणी की है। उनका यह मानना है कि जिस प्रकार मूल्यों का संकट होता जा रहा है उसमें 'चीफ की दावत' कहानी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मध्यवर्ग की विडंबना को हमारे सामने उजागर करती है। इसके पात्र मानवीय नैतिकता के संकट के रूप में दिखाई पड़ते हैं। लेकिन यह भी उतना ही सही है की उस संकट के जिम्मेदार हम स्वयं हैं। दिनेश कुशवाह के कविता संग्रह 'ईश्वर के पीछे' पर मोतीलाल की सार्थक टिप्पणी है। रमेशचंद्र शाह ने पुरी के स्मृति चित्रों को काव्य रूप प्रदान किया है। उन्होंने अपनी कविता में एक अपूर्व काल्पनिक सामंजस्य करने का प्रयास किया है –

'बनते मिटते पहाड़
पल प्रति पल
रचता हिमालय
समुद्र-फेन...
दर्शन को तेरे
ओ जगन्नाथ!
उमड़-उमड़ आते ज्यों
बदरी केदार ये
असंख्य!!!'

रमेशचंद्र शाह ने इस प्रकार से पुरी की स्मृति को तीन स्मृति-चित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है. नंदकिशोर आचार्य की सात कविताएं भी अंक की उपलब्धि है। 'उसी हवा में' शीर्षक कविता में आचार्य जी कहते हैं –

'सूख गया हूं जब
झरूंगा ही
झूमता इसी हवा में
परस भर से जिसके
बेकल हो उठता था
मेरा सौरभ'

ये कविताएं जिजीविषा को संबल देती कविताएं हैं। 'वागर्थ' के इस अंक में कई पीढ़ी के लोगों से रूबरू होने का अवसर मिलता है।

इन्द्रप्रस्थ भारती

यह अंक हरिसुमन बिष्ट द्वारा नई रचनाशीलता और बाजार के जोखिम पर विचार के साथ शुरू होता है। इनका मानना है कि विश्व का जो विभाजन हुआ है उन तीनों के विभाजक श्रेणियों के अस्तित्व को बचाने के लिए यक्ष प्रश्न से गुजरना पड़ता है। इस वैश्विक व्यवस्था में गरीब और गरीब देशों की स्थिति पूर्णत: भिन्न है। पूंजी का विशाल दानव मुंह खोलकर बड़े-बड़े संस्थानों को निगलने के लिए तैयार है। वह इस ओर भी संकेत करते हैं जो देश इस पूंजी के बहाव को नहीं महसूस करेगा। वह अपना अस्तित्व नहीं बचा पाएगा। हिंदी में भी देखा जाए तो यह पूंजी व्यवस्था साहित्य और साहित्यकार दोनों के लिए चुनौती खड़ा करने वाली है। अवधेश श्रीवास्तव के आलेख 'मीना कुमारी: सफरनामा चालीस मील लंबी मौत का' में वे मीना कुमारी को अदाकारी के मजमून पर लिखी किताब मानते हैं। वे इसी आलेख में इस बात का भी दावा पेश करना चाहते हैं कि मीना कुमारी की जिंदगी एक ऐसी

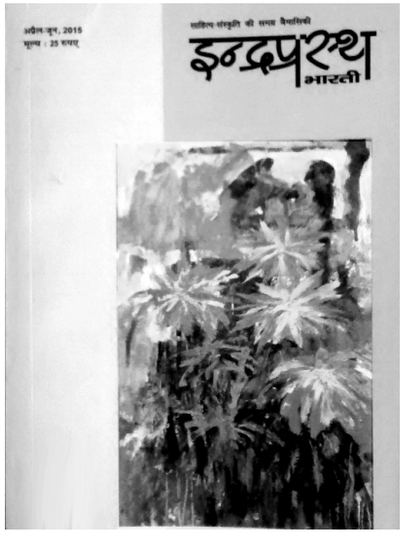

किताब है जिसे आज की अदाकारा और आनेवाली कल की अदाकारा को जरूर पढ़ना चाहिए। अपने आलेख में वे इस बात का भी खुलासा करते हैं कि मीना कुमारी के पिता ने उसे 'महजबीन' नाम से नवाजा था लेकिन 'फर्ज ए वतन' फिल्म के निर्माता ने उसे मीना कुमारी नाम दिया। इसी आलेख के बहाने में कुछ चर्चा उनके व्यक्तिगत जिंदगी के बारे में भी कुछ चर्चा की गई है। यह भी माना जाता है कि उनके जैसी अदाकारा मिलना अब मुश्किल है क्योंकि कला उन्हें विरासत में मिली थी। इसी आलेख मे 1936-1972 के बीच की फिल्मों की सूची भी दी गई है। मीना कुमारी को समझने के लिए यह आलेख महत्वपूर्ण है। रमेशचंद्र शाह ने 'आधुनिकता का संस्कार: विश्व चेतस हिंदी और हम' शीर्षक आलेख में हिंदी को महत्ता प्रदान करते हुए कहते हैं कि 'हिंदी भारत के हृदय की कुंजी है'। उनके आलेख में इस बात की तरफ भी ध्यान आकृष्ट किया गया है कि हिंदी भाषा और साहित्य में किस प्रकार से सांस्कृतिक और दार्शनिक परंपरा का प्रकटीकरण हुआ है, इस तरफ भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसी बात पर वे कुछ दुखी भी मालूम पड़ते हैं कि अब हमारे साहित्य में न अनास्था दिखती है न आस्था और न ही अपनी चिंता। प्रभाकर श्रोत्रिय ने छायावाद को संदर्भ बनाते हुए अपने आलेख को 'कामायनी का नव सांस्कृतिक विमर्श' नामक शीर्षक दिया है।

PUSTAK VARTA May-August 44-76:JULY-AUGUST 2014.qxd 10/5/2015 2:21 PM Page 76

छायावाद को लेकर कई वादों प्रतिवादों का अंकन करने के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथन 'यह साहित्य अपने युग की संपूर्ण चेतना और विचार-संघर्ष की सुंदर अभिव्यक्ति है' पर अपनी सहमति प्रदान करते हैं। जिसको वे संपूर्ण विमर्श का निचोड़ भी कहते हैं। इस आलेख में तमाम ऐसी बातें हैं जिनसे उस युग और 'कामायनी' को समझने की नई दिशा भी मिल सकती है। वह यह भी मानते हैं की गहन अंधकार की बेला, प्रकाश के आहवान की भी बेला बन सकती है। 'कामायनी' के सांस्कृतिक विमर्श का यही सार तत्व भी हो सकता है। मधुरेश ने 'संजीव के उपन्यास और आदिवासी समाज' पर अपनी टिप्पणी देते हुए यह कहा है कि संजीव दलित लेखकों एवं सिद्धांतविदों के इस बात का प्रत्याख्यान करते हैं जिसमें यह कहा जाता है की दलित लेखक ही दलित समुदाय पर लिख सकता है। सुदर्शन वशिष्ठ 'तीन कहानियों की बाद कथाकार गुलेरी: एक पुनर्विचार' के माध्यम से गुलेरी जी की रचनात्मकता को परखने की कोशिश की है। उनका यह मानना है की गुलेरी जी पहली कहानी में परिणय दूसरी में साहचर्य और तीसरी में साहचर्यजनित अव्यक्त रूप के साथ एक विशाल वातावरण तैयार किया है जो कहानी के फलक को बिस्तार देता है। आलेख के अंत में कुछ स्थापनाएं खटकती जरूर हैं जब वह कहते हैं कि 'हीरे का हीरा' भी 'उसने कहा था' में जुड़ जाना चाहिए। फिर भी उन्होंने गुलेरी जी को नए दृष्टि से पेश किया है। किशोरीलाल गोस्वामी के साहित्य में इतिहास, रोमांस और किस्सागोई को गरिमा श्रीवास्तव के आलेख के बहाने देखा जा सकता है। उनका यह मानना है कि अपने समकालीनों की अपेक्षा किशोरीलाल गोस्वामी में समाज-सम्बद्धता अधिक है। वह न सिर्फ गोस्वामी जी अपितु उनके समकालीन विचारकों के विचारों से भी रूबरू कराती हैं। इसके अन्य स्तंभ भी काफी रोचक और महत्वपूर्ण हैं। नरेन्द्र कोहली का आत्मकथा अंश 'हम क्या करें, हम कैसे रहें' रामदरश मिश्र की कविता 'आइना' और 'परछाई', अजय तिवारी की 'संबोधन'अच्छी हैं। हरिपाल त्यागी ने 'भारतीय मूर्तिकला की संक्षिप्त रूप-रेखा' के बहाने अपने विचार रखे हैं। इस अंक के बहाने कई विचारणीय बहसों से टकराने का अवसर भी मिलता है। इस महत्त्वपूर्ण अंक के लिए निश्चय ही बिष्ट जी बधाई के हकदार हैं।

संदर्भित पत्रिकाएं :

1. पहल-100 (जून-जुलाई, 2015) सं.: ज्ञानरंजन,101, रूपनगर आधारताल, जबलपुर-482004 मूल्य : ₹ 100

2. आलोचना (सहस्राब्दी अंक-54). सं.:अपूर्वानंद , राजकमल प्रकाशन 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग दरियागंज नई दिल्ली-110002 मूल्य: ₹ 50

3. बया (अप्रैल-जून 2015). सं.: गौरीनाथ, सी-56/यूजीफ-4, शालीमार गार्डन एक्सटेंशन 77,गाजियाबाद (उ.प्र.) मूल्य: ₹ 40

4. वागर्थ (जुलाई 2015) सं:एकांत श्रीवास्तव, भारतीय भाषा परिषद् 26, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता-17 मूल्य: ₹20

5.तदभव-31 (अप्रैल 2015), सं.: अखिलेश, 18/201 इंदिरा नगर, लखनऊ मूल्य: ₹ 80

6. इंद्रप्रस्थ भारती (अप्रैल-जून 2015)सं.: हरिसुमन बिष्ट,हिंदी अकादमी, दिल्ली-110007 मूल्य: ₹ 25 ■